अनेकान्त

वैशाख, संवत् २००५ :: मई, सन् १९४८

संस्थापक–प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

वर्ष ९ ★ किरण ५

सञ्चालक-व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

★

सम्पादक-मंडल

जुगलकिशोर मुख्तार
प्रधान सम्पादक

मुनि कान्तिसागर

दरबारीलाल न्यायाचार्य

अयोध्याप्रसाद गोयलीय
डालमियानगर (बिहार)

★

साधु—विवेक

असाधु

वस्त्र रँगाते मन न रँगाते, कपट-जाल नित रचते हैं;
'हाथ सुमरनी पेट कतरनी', पर-धन-वनिता तकते हैं।
आपा-परकी खबर नहीं, परमार्थिक बातें करते हैं;
ऐसे ठगिया साधु जगतकी, गली-गलीमें फिरते हैं॥

साधु

राग, द्वेष जिनके नहिं मनमें, प्रायः विपिन विचरते हैं;
क्रोध, मान, मायादिक तजकर, पञ्च महाव्रत धरते हैं।
ज्ञान-ध्यानमें लीन-चित्त, विषयोंमें नहीं भटकते हैं;
वे हैं साधु, पुनीत, हितैषी, तारक जो खुद तरते हैं॥

—पं० दलीपसिंह कागज़ी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची

विषय				पृष्ठ
१	सम्यग्दृष्टि—[स्व० कवि बनारसीदास	....	....	१६७
२	परमात्मराज-स्तोत्र (श्रीपद्मनन्दि मुनिकृत)	....	....	१६८
३	समवसरणमें शूद्रोंका प्रवेश—[प्र० सम्पादक	....	....	१६६
३	वर्णीजीका हालका एक आध्यात्मिक पत्र	....	....	१८१
५	कुत्ते (कहानी)—[गोयलीय	....	....	१८२
६	त्यागका वास्तविक रूप—[पं० श्रीगणेशप्रसाद वर्णी	....	....	१८३
७	समय रहते सावधान (कविता)—[स्व० कवि भूधरदास	....	....	१८६
८	संगीतपुरके सालुवेन्द्र नरेश और जैनधर्म—[बा० कामताप्रसाद	....	....	१८७
९	जैनधर्म बनाम समाजवाद—[पं० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य	....	....	१८६
१०	सन्मति-विद्या-विनोद—[जुगलकिशोर मुख्तार	....	....	१६७
११	मुजफ्फ़रनगरका परिषद्-अधिवेशन—[बा० माईदयाल बी० ए०	....	....	२०४
१२	बर्नार्डशाके पत्रका एक अंश [बा० ज्योतिप्रसाद जैन	....	....	२०६
१३	पाकिस्तानी-पत्र—[गोयलीय	....	....	२०७
१४	सम्पादकीय—[अयोध्याप्रसाद गोयलीय	....	....	२०८
१५	कथित स्वोपज्ञ भाष्य—[—बा० ज्योतिप्रसाद एम० ए०	....	....	२११

वीरशासन-जयन्ती मनाइये

श्रावण कृष्ण-प्रतिपदाकी पुण्यतिथि आरही है

इस वर्ष आगामी २२ जुलाई १९४८ बृहस्पतिवार-को श्रावणकृष्णाप्रतिपदाकी पुण्य-तिथी अर्थात् वीरशासनजयन्ती अवतरित हो रही है। इस दिन भगवान् महावीरका तीर्थ (शासन) प्रवर्तित हुआ था—इसी दिन उन्होंने अपना लोक-कल्याणकारी सर्वप्रथम उपदेश दिया था, उनकी दिव्यध्वनि वाणी पहले पहल खिरी थी, जिसे सुन कर दुखी और अशान्त जनताने सुख-शान्तिका अपूर्व अनुभव किया था साथ ही धर्मके नामपर होनेवाले बलिदानों और अत्याचारों-की रोक हुई थी। भगवान वीरने हिंसा अहिंसा तथा धर्म-अधर्मका तत्त्व इसी दिनसे समझाना प्रारम्भ किया था, अहिंसा और अपरिग्रह धर्मका लोगोंको यथार्थ स्वरूप समझाया था और इसलिये यह दिन कृतज्ञ संसारके लिये बड़े महत्वका है।

इसके सिवाय, इस तिथिका ऐतिहासिक भी महत्व है। भारतवर्षमें पहले वर्षका प्रारम्भ इसी दिनसे हुआ करता था।

इस तरह यह पुण्यतिथि—वीरशासन जयन्ती सभीके द्वारा समारोहके साथ मनाये जानेके योग्य है। सब जगह प्रत्येक गाँव और शहरके लोगोंको अभीसे उसको मनानेकी तैयारियाँ शुरू कर देनी चाहिये। वीरसेवामन्दिर इस बार इस पुण्य पर्वको मनानेकी कुछ विशिष्ट आयोजनाएँ तत्परताके साथ कर रहा है। इस दिन अहिंसा और अपरिग्रह-जैसे जैन सिद्धान्तोंका प्रचारक सुन्दर साहित्य लोकमें प्रचुर मात्रामें प्रचारित किया जाना चाहिये, महावीर-सन्देशको घर घरमें पहुँचाना चाहिये और उसके अनुसार चलनेका पूरा प्रयत्न होना चाहिये।

—दरबारीलाल कोठिया (न्यायाचार्य)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ अर्हम्

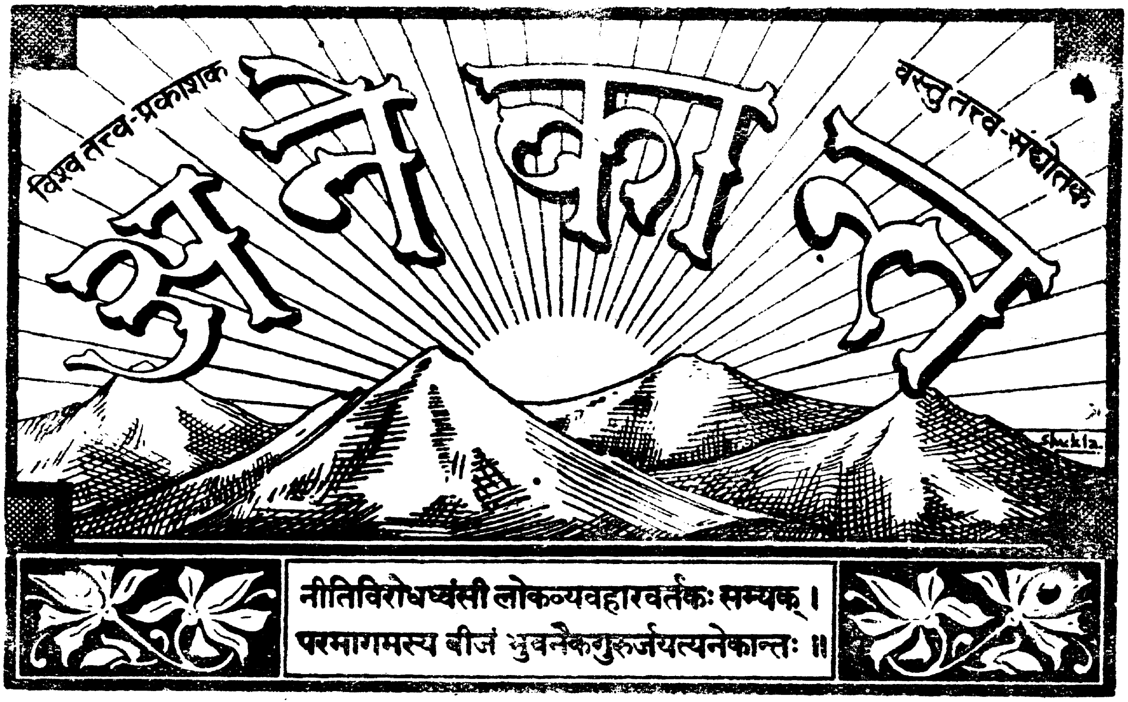

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरणका मूल्य ।)

वर्ष ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर	मई
किरण ५	वैशाख शुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत २४७४, विक्रम-संवत २००५	१९४८

सम्यग्दृष्टि

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट, सीतलचित्त भयौ जिम चन्दन ।
केलि करैं सिवमारगमैं, जगमाहिं जिनेसुरके लघुनन्दन ॥
सत्यसरूप सदा जिन्हकै, प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकन्दन ।
सांतदशा तिन्हकी पहिचानि, करै करजोरि बनारसि बन्दन ॥१॥

स्वारथके साँचे परमारथके साँचे चित, साँचे साँचे बैन कहैं साँचे जैनमती हैं ।
काहूके विरोधिनाहिं परजाय-बुद्धि नाहिं, आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं ॥
सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसै घटमैं प्रगट सदा, अन्तरकी लच्छिसौं अजाची लच्छपती हैं ।
दास भगवन्तके उदास रहैं जगतसौं, सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं ॥२॥

जाकै घट प्रगट विवेक गणधरकौसौं, हिरदै हरखि महामोहकौं हरतु है ।
साँचौ सुख मानै निज महिमा अडौल जानै, आपुहीमें आपनौ सुभाउ ले धरतु है ॥
जैसे जल-कर्दम कतकफल भिन्न करै, तैसैं जीव अजीव विलच्छनु करतु है ।
आतम सकति साधै ग्यानकौ उदौ अराधै, सोई समकिति भवसागर तरतु है ॥३॥

—कवि बनारसीदास

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परमात्मराज-स्तोत्र*

(श्रीपद्मनन्दिमुनि विरचित)

यस्य प्रसाद-वशतो वृषभादयोऽपि प्रापुर्जिनाः परम-मोक्षपुराऽधिपत्यम् ।
आद्यन्तमुक्त-महिमानमनन्त-शक्तिं भक्त्या नमामि तमहं परमात्मराजम् ॥ १ ॥
त्वां चिद्घनं समयसारमखण्डमूर्तिं ज्योतिःस्वरूपममलं पर-भाव-मुक्तम् ।
स्तोतुं न सूक्ष्म-मतयोयतयोऽपि शक्ताः कोऽहं चिदात्मक पुनर्जडिमैक-पात्रम् ॥ २ ॥
प्रोक्तं कथञ्चिदिह तत्त्वविदांवरेण चिद्रूप तत्र भवतोभवतः स्वरूपम् ।
नो बुद्ध्यते बुधजनोऽप्यथवा प्रबुद्धं तन्मोक्षमक्षय-सुखं द्रुतमातनोति ॥ ३ ॥
यो ज्ञानवान्स्व-परयोः कुरुते विभेदं ज्ञानेन नीर-पयसोरिव राजहंसः ।
सोऽपि प्रमोद-भर-निर्भरमप्रमेय-शक्तिं कथञ्चिदिह विन्दति चेतनत्वम् ॥ ४ ॥
तादात्म्य-वृत्तिमिह कर्म-मलेन साकं यः स्वात्मनो वितनुते तनुधीः प्रमादात् ।
स त्वां चिदात्मक कथं प्रथितप्रकाशं विश्वाऽतिशायि-महिमानमवैति योगी ॥ ५ ॥
चित्राऽऽत्म-शक्ति-समुदाय-मयं चिदात्मन् ये त्वां श्रयन्ति मनुजा व्यपनीत-मोहाः ।
ते मोक्षमक्षय-सुखं त्वरितं लभन्ते मूढास्तु संसृति-पथे परितो भ्रमन्ति ॥ ६ ॥
चित्पिण्ड-चण्डिम-तिरस्कृत-कर्मजाले ज्योतिर्मये त्वयि समुल्लसति प्रकामम् ।
निक्षेपधीः क्व नय-पक्ष-विधिः क्व शास्त्रं कुत्राऽऽगमः क्व च विकल्प-मतिः क्व मोहः ॥ ७ ॥
स्याद्वाद-दीपित-लसन्महसि त्वयीशे प्राप्तोदये विलयमेति भव-प्रसूतिः ।
चञ्चत्प्रताप-निकरेऽभ्युदयं दिनेशे याते हि वल्गति कियत्तमसः समूहः ॥ ८ ॥
कुर्वन्तु तानि विविधानि तपांसि शीलं चिन्वन्तु शास्त्र-जलधिं च तरन्त्वगाधम् ।
चिद्रूप ते हृदय-वागतिवर्ति-धाम्नो ध्यानं विना न मुनयोऽक्षय-सौख्य-भाजः ॥ ९ ॥
सिद्धान्त-लक्षण-सदध्ययनेन चित्तमात्मीयमत्र नियतं परिरञ्जयन्ति ।
ये ते बुधाः प्रतिगृहं बहवश्चिदात्मन् ये त्वत्स्वरूप-निरता विरलास्त एव ॥१०॥
दृग्गोचरत्वमुपयासि न वा ममत्वं धत्से न संस्तवनतोऽपि न तुष्टिमेसि ।
कुर्वे किमत्र तदपि त्वमसि प्रियो मे यस्माद्भवाऽऽमय-हृतिर्भवदाश्रितेयम् ॥११॥
आनन्द-मेदुरमिदं भवतः स्वरूपं नृणां मनः स्पृशति चेत्क्षणमप्यमोहात् ।
दुःखानि दुर्द्धर-भव-भ्रमणोद्भवानि नश्यन्ति चेत्तदिह किं कुरु कंचिदात्मन् ॥१२॥
ज्ञानं त्वमेव वरवृत्तमपि त्वमेव त्वं दर्शनं त्वमपि शुद्धनयस्त्वमीशः ।
पुण्यः पुराणपुरुषः परमस्त्वमेव यत्किञ्चनत्वमपि किं बहु-जल्पितेन ॥१३॥
सच्चिच्चमत्कृति-चिताय जगन्नुताय शुद्धस्फुरत्समरसैक-सुधार्णवाय ।
दुःकर्म-बन्धन-भिदेऽप्रतिम-प्रभाय चिद्रूप तत्र भवते भवते नमोऽस्तु ॥१४॥
अच्छोच्छलत्परमचित्ति-चितं कलङ्क-मुक्तं विविक्त-महसं परमात्मराजम् ।
यो ध्यायते प्रतिदिनं लभते यतीन्द्रो मुक्तिं स भव्य-जन-मानस-पद्मनन्दी ॥१५॥

इति परमात्मराज-स्तुतिः (स्तोत्रम्)

*यह स्तोत्र कैराना ज़ि० मुजफ्फ़रनगरकी उसी षट्पत्रात्मक ग्रन्थप्रतिपरसे उपलब्ध हुआ है जिसपरसे पिछली किरणों में प्रकाशित 'स्वरूपभावना' और 'रावण-पार्श्वनाथ-स्तोत्र' उपलब्ध हुए थे। — सम्पादक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समवसरणमें शूद्रोंका प्रवेश

[सम्पादकीय]

जैन तीर्थङ्करोंके दिव्य समवसरणमें, जहाँ सभी भव्यजीवोंको लक्ष्यमें रखकर उनके हितका उपदेश दिया जाता है, प्राणीमात्रके कल्याणका मार्ग सुझाया जाता है और मनुष्यों-मनुष्योंमें कोई जाति-भेद न करके राजा-रङ्क सभी गृहस्थोंके बैठनेके लिये एक ही वलयाकार मानवकोठा नियत रहता है; जहाँके प्रभावपूर्ण वातावरणमें परस्परके वैरभाव और प्राकृतिक जातिविरोध तकके लिये कोई अवकाश नहीं रहता; जहाँ कुत्ते-बिल्ली, शेर-भेड़िये, साँप-नेवले, गधे-भैंसे जैसे जानवर भी तीर्थङ्करकी दिव्यवाणीको सुननेके लिये प्रवेश पाते हैं और सब मिलजुलकर एक ही नियत पशुकोठेमें बैठते हैं, जो अन्तका १२वाँ होता है, और जहाँ सबके उदय-उत्कर्षकी भावना एवं साधनाके रूपमें अनेकान्तात्मक 'सर्वोदय तीर्थ' प्रवाहित होता है वहाँ श्रवण, ग्रहण तथा धारणकी शक्तिसे सम्पन्न होते हुए भी शूद्रोंके लिये प्रवेशका द्वार एक दम बन्द होगा, इसे कोई भी सहृदय विद्वान अथवा बुद्धिमान माननेके लिये तैयार नहीं होसकता। परन्तु जैनसमाजमें ऐसे भी कुछ पण्डित हैं जो अपने अद्भुत विवेक, विचित्र संस्कार अथवा मिथ्या धारणाके वश ऐसी अनहोनी बातको भी माननेके लिये प्रस्तुत हैं, इतना ही नहीं बल्कि अन्यथा प्रतिपादन और गलत प्रचारके द्वारा भोले भाइयोंकी आँखोंमें धूल झोंककर उनसे भी उसे मनवाना चाहते हैं। और इस तरह जाने-अनजाने जैन तीर्थङ्करोंकी महती उदार-सभाके आदर्शको गिरानेके लिये प्रयत्नशील हैं। इन पण्डितोंमें अध्यापक मङ्गलसेनजीका नाम यहाँ खासतौरसे उल्लेखनीय है, जो अम्बाला छावनीकी पाठशालामें पढ़ाते हैं। हालमें आपका एक सवादो पेजी लेख मेरी नज़रसे गुजरा है, जिसका शीर्षक है "१०० रुपयेका पारितोषिक—सुधारकोंको लिखित शास्त्रार्थका खुला चेलेंज" और जो 'जैन बोधक' वर्ष ६३ के २७वें अङ्कमें प्रकाशित हुआ है। इस लेख अथवा चेलेंजको पढ़कर मुझे बड़ा कौतुक हुआ और साथ ही अध्यापकजीके साहसपर कुछ हँसी भी आई। क्योंकि लेख पद-पदपर स्खलित है—स्खलित भाषा, अशुद्ध उल्लेख, गलत अनुवाद, अनोखा तर्क, प्रमाण-वाक्य कुछ उनपरसे फलित कुछ, और इतनी असावधान लेखनीके होते हुए भी चैलेंज का दुःसाहस! इसके सिवाय, खुद ही मुद्दई और खुद ही जज बननेका नाटक अलग!! लेखमें अध्यापकजीने बुद्धिबलसे काम न लेकर शब्दच्छलका आश्रय लिया है और उसीसे अपना काम निकालना अथवा अपने किसी अहंकारको पुष्ट करना चाहा है; परन्तु इस बातको भुला दिया है कि कोरे शब्दच्छल से काम नहीं निकला करता और न व्यर्थका अहंकार ही पुष्ट हुआ करता है।

आप दूसरोंको तो यह चैलेंज देने बैठ गये कि वे आदिपुराण तथा उत्तरपुराण-जैसे आर्षग्रन्थोंके आधारपर शूद्रोंका समवसरणमें जाना, पूजा-वन्दना करना तथा श्रावकके बारह व्रतोंका ग्रहण करना सिद्ध करके बतलाएँ और यहाँ तक लिख गये कि "जो महाशय हमारे नियमके विरुद्ध कार्य कर समाधानका प्रयत्न करेंगे (दूसरे आर्षादि ग्रन्थोंके आधारपर तीनों बातोंको सिद्ध करके बतलायेंगे) उनके लेखको निस्सार समझ उसका उत्तर भी नहीं दिया जावेगा।" परन्तु स्वयं आपने उक्त दोनों ग्रन्थों के आधारपर अपने निषेध-पक्षको प्रतिष्ठित नहीं किया—उनका एक भी वाक्य उसके समर्थनमें उपस्थित नहीं किया, उसके लिये आप दूसरे ही ग्रंथों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का गलत आश्रय लेते फिरे हैं जिनमें एक 'धर्मसंग्रह-श्रावकाचार' जैसा अनार्ष ग्रन्थ भी शामिल है, जो विक्रमकी १६वीं शताब्दीके एक पण्डित मेधावीका बनाया हुआ है। यह है अध्यापकजीके न्यायका एक नमूना, जिसे आपने स्वयं जजका जामा पहनकर अपने पास सुरक्षित रख छोड़ा है और यह घोषित किया है कि "इस चैलेंजका लिखित उत्तर सीधा हमारे पास ही आना चाहिये अन्यथा लेखोंके हम जुम्मेवार नहीं होंगे।"

इसके सिवाय, लेखमें सुधारकोंको 'आगमके विरुद्ध कार्य करने वाले', 'जनताको धोखा देने वाले' और 'काली करतूतों वाले' लिखकर उनके प्रति जहाँ अपशब्दोंका प्रयोग करते हुए अपने हृदय-कालुष्यको व्यक्त किया है वहाँ उसके द्वारा यह भी व्यक्त कर दिया है कि आप सुधारकोंके किसी भी वाद या प्रतिवाद के सम्बन्धमें कोई जजमेंट (फैसला) देनेके अधिकारी अथवा पात्र नहीं हैं।

गालबन इन्हीं सब बातों अथवा इनमेंसे कुछ बातोंको लक्ष्यमें लेकर ही विचार-निष्ठ विद्वानोंने अध्यापकजीके इस चैलेंज-लेखको विडम्बना-मात्र समझा है और इसीसे उनमेंसे शायद किसीकी भी अब तक इसके विषयमें कुछ लिखनेकी प्रवृत्ति नहीं हुई; परन्तु उनके इस मौन अथवा उपेक्षाभावसे अनुचित लाभ उठाया जा रहा है और अनेक स्थलों पर उसे लेकर व्यर्थकी कूद-फाँद और गल-गर्जना की जाती है। यह सब देखकर ही आज मुझे अवकाश न होते हुए भी लेखनी उठानी पड़ रही है। मैं अपने इस लेख-द्वारा यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अध्यापकजीका चैलेंज कितना बेहूदा, बेतुका तथा आत्मघातक है और उनके लेखमें दिये हुए जिन प्रमाणोंके बलपर कूदा जाता है अथवा अहंकारसे पूर्ण बातें की जाती हैं वे कितने निःसार, निष्प्राण एवं असङ्गत हैं और उनके आधारपर खड़ा हुआ किसी का भी अहङ्कार कितना बेकार है।

उक्त चैलेंज लेख सुधारकोंके साथ आमतौरपर सम्बद्ध होते हुए भी खासतौरपर तीन विद्वानोंको लक्ष्यमें लेकर लिखा गया है—तीन ही उसमें नम्बर हैं। पहले नम्बरपर व्याकरणाचार्य पं० बन्शीधरजी का नाम है, दूसरे नम्बरपर मेरा नाम (जुगलकिशोर) 'सुधारकशिरोमणि' के पदसे विभूषित! और तीसरे नम्बरपर 'सम्पादक जैनमित्रजी' ऐसा नामोल्लेख है। परन्तु इस चैलेञ्जकी कोई कापी अध्यापकजीने मेरे पास भेजनेकी कृपा नहीं की। दूसरे विद्वानोंके पास भी वह भेजी गई या कि नहीं, इसका मुझे कुछ पता नहीं, पर खयाल यही होता है कि शायद उन्हें भी मेरी तरह नहीं भेजी गई है और यों ही—सम्बद्ध विद्वानोंको खासतौरपर सूचित किये बिना ही—चैलेञ्जको चरितार्थ हुआ समझ लिया गया है! अस्तु।

लेखमें व्याकरणाचार्य पं० बन्शीधरजीका एक वाक्य, कोई आठ वर्ष पहलेका, जैनमित्रसे उद्धृत किया गया है और वह निम्न प्रकार है—

"जब कि भगवानके समोशरणमें नीचसे नीच व्यक्ति स्थान पाते हैं तो समझमें नहीं आता कि आज दस्सा लोग उनकी पूजा और प्रक्षालसे क्यों रोके जाते हैं।"

इस वाक्यपरसे अध्यापकजी प्रथम तो यह फलित करते हैं कि "दस्साओंके पूजनाधिकारको सिद्ध करनेके लिए ही आप (व्याकरणाचार्यजी) समोशरणमें शूद्रोंका उपस्थित होना बतलाते हैं।" इसके अनन्तर—"तो इसके लिये हम आदिपुराण और उत्तरपुराण आपके समक्षमें उपस्थित करते हैं" ऐसा लिखकर व्याकरणाचार्यजीको बाध्य करते हैं कि वे उक्त दोनों ग्रन्थोंके आधारपर "शूद्रोंका किसी भी तीर्थंकरके समोशरणमें उपस्थित होना प्रमाणों द्वारा सिद्ध करके दिखलावें।" साथ ही तर्कपूर्वक अपने जजमेंटका नमूना प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—"यदि आप इन ऐतिहासिक ग्रन्थों द्वारा शूद्रोंका समोशरणमें जाना सिद्ध नहीं कर सके तो दस्साओं के पूजनाधिकारका कहना आपका सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो जायगा" और फिर पूछते हैं कि "सङ्गठनकी आड लेकर जिन दस्साओंको आपने आगमके विरुद्ध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपदेश देकर पूजनादिका अधिकारी ठहराया है उस पापका भागी कौन होगा।" इसके बाद, यह लिख कर कि "अब हम जिस आगमके विरुद्ध आपके कहनेको मिथ्या बतलाते हैं उसका एक प्रमाण लिख कर भी आपको दिखलाते हैं", जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणका 'पापशीला विकुर्माणाः' नामका एक श्लोक यह घोषणा करते हुए कि उसमें "भगवान नेमिनाथके समोशरणमें शूद्रोंके जानेका स्पष्टतया निषेध किया है" उद्धृत करते हैं और उसे ५९वें सर्गका १९०वाँ श्लोक बतलाते हैं। साथ ही पण्डित गजाधरलालजीका अर्थ देकर लिखते हैं—"हमने यह आचार्य वाक्य आपको लिखकर दिखलाया है आप अन्य इतिहासिक ग्रन्थों (आदिपुराण-उत्तरपुराण) के प्रमाणों द्वारा इसके अविरुद्ध सिद्ध करके दिखलावें और परस्परमें विरोध होनेका भी ध्यान अवश्य रक्खें।"

अध्यापकजीका यह सब लिखना अविचारितरम्य एवं घोर आपत्तिके योग्य है, जिसका खुलासा निम्न प्रकार है:—

प्रथम तो व्याकरणाचार्यजीके वाक्यपरसे जो अर्थ स्वेच्छापूर्वक फलित किया गया है वह उसपरसे फलित नहीं होता, क्योंकि "शूद्रोंका समोशरणमें उपस्थित होना" उसमें कहीं नहीं बतलाया गया—'शूद्र' शब्दका प्रयोग तक भी उसमें नहीं है। उसमें साफतौरपर नीचसे नीच व्यक्तियोंके समवसरणमें स्थान पानेकी बात कही गई है और वे नीचसे नीच व्यक्ति 'शूद्र' ही होते हैं ऐसा कहीं कोई नियम अथवा विधान नहीं है, जिससे 'नीचसे नीच व्यक्ति' का वाच्यार्थ 'शूद्र' किया जासके। उसमें 'नीचसे नीच' शब्दोंके साथ 'मानव' शब्दका भी प्रयोग न करके 'व्यक्ति' शब्दका जो प्रयोग किया गया है वह अपनी खास विशेषता रखता है। नीचसे नीच मानव भी एक मात्र शूद्र नहीं होते, नीचसे नीच व्यक्तियोंकी तो बात ही अलग है। 'नीचसे नीच व्यक्ति' शब्दोंका प्रयोग उन हीन तिर्यञ्चोंको लक्ष्यमें रखकर किया गया जान पड़ता है जो समवसरणमें खुला प्रवेश पाते हैं। उनके इस प्रकट प्रवेशकी बातको लेकर ही बुद्धिको अपील करते हुए ऐसा कहा गया है कि जब नीचसे नीच तिर्यञ्च प्राणी भी भगवानके समवसरणमें स्थान पाते हैं तब दस्सा लोग तो, जो कि मनुष्य होनेके कारण तिर्यञ्चोंसे ऊँचा दर्जा रखते हैं, समवसरणमें जरूर स्थान पाते हैं, फिर उन्हें भगवानके पूजनादिकसे क्यों रोका जाता है ? खेद है कि अध्यापकजीने इस सहज-ग्राह्य अपीलको अपनी बुद्धिके कपाट बन्द करके उस तक पहुँचने नहीं दिया और दूसरेके शब्दोंको तोड़-मरोड़कर व्यर्थमें चैलेंजका षड्यन्त्र रच डाला !!

दूसरे, व्याकरणाचार्यजीको एक मात्र आदिपुराण तथा उत्तरपुराणके आधारपर किसी तीर्थंकरके समवसरणमें शूद्रोंका उपस्थित होना सिद्ध करनेके लिये बाध्य करना किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जासकता; क्योंकि उन्होंने न तो शूद्रोंके समवसरण-प्रवेशपर अपने पक्षको अवलम्बित किया है और न उक्त दोनों ग्रन्थोंपर ही अपने पक्षका आधार रक्खा है। जब ये दोनों बातें नहीं तब यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या अध्यापकजीकी दृष्टिमें उक्त दोनों ग्रन्थ ही प्रमाण हैं, दूसरा कोई जैनग्रन्थ प्रमाण नहीं है ? यदि ऐसा है तो फिर उन्होंने स्वयं हरिवंशपुराण और धर्मसंग्रहश्रावकाचारके प्रमाण अपने लेखमें क्यों उद्धृत किये ? यदि दूसरे जैनग्रन्थ भी प्रमाण हैं तो फिर एक मात्र आदिपुराण और उत्तरपुराणके प्रमाणोंको उपस्थित करनेका आग्रह क्यों ? और दूसरे ग्रंथोंके प्रमाणोंकी अवहेलना क्यों ? यदि समान-मान्यताके ग्रन्थ होनेसे उन्हींपर पक्ष-विपक्षके निर्णयका आधार रखना था तो अपने निषेधपक्षको पुष्ट करनेके लिये भी उन्हीं ग्रन्थोंपरसे कोई प्रमाण उपस्थित करना चाहिए था; परन्तु अपने पक्षका समर्थन करनेके लिये उनका कोई भी वाक्य उपस्थित नहीं किया गया और न किया जा सकता है; क्योंकि उनमें कोई भी वाक्य ऐसा नहीं है जिसके द्वारा शूद्रोंका समवसरणमें जाना निषिद्ध ठहराया गया हो। और जब उक्त दोनों ग्रन्थोंमें शूद्रोंके समवसरणमें जाने-न-जाने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्धी कोई स्पष्ट उल्लेख अथवा विधि-निषेध-परक वाक्य ही नहीं तब ऐसे ग्रन्थोंके आधारपर चैलेंज की बात करना चैलेंजकी कोरी विडम्बना नहीं तो और क्या है? इस तरहके तो पूजनादि अनेक विषयोंके सैंकड़ों चैलेंज अध्यापकजीको तत्त्वार्थ-सूत्रादि ऐसे ग्रन्थोंको लेकर दिये जा सकते हैं जिनमें उन विषयोंका विधि या निषेध कुछ भी नहीं है। परन्तु ऐसे चैलेंजोंका कोई मूल्य नहीं होता, और इसीसे अध्यापकजीका चैलेंज विद्वद्दृष्टिमें उपेक्षणीय ही नहीं किन्तु गर्हणीय भी है।

तीसरे, अध्यापकजीका यह लिखना कि "यदि आप इन ऐतिहासिक ग्रन्थों द्वारा शूद्रोंका समोशरण-में जाना सिद्ध नहीं कर सके तो दस्साओंके पूजना-धिकारका कहना आपका सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो जायगा" और भी विडम्बनामात्र है और उनके अनोखे तर्क तथा अद्भुत न्यायको व्यक्त करता है! क्योंकि शूद्रोंका यदि समवसरणमें जाना सिद्ध न किया जासके तो उन्हींके पूजनाधिकारको व्यर्थ ठहराना था न कि दस्साओंके, जिनके विषयका कोई प्रमाण माँगा ही नहीं गया! यह तो वह बात हुई कि सबूत किसी विषयका और निर्णय किसी दूसरे ही विषयका! ऐसी जजीपर किसे तर्स अथवा रहम नहीं आएगा और वह किसके कौतुकका विषय नहीं बनेगी!!

यदि यह कहा जाय कि शूद्रोंके पूजनाधि-कारपर ही दस्साओंका पूजनाधिकार अवलम्बित है —वे उनके समानधर्मा हैं—तो फिर शूद्रोंके स्पष्ट पूजनाधिकार-सम्बन्धी कथनों अथवा विधि-विधानों को ही क्यों नहीं लिया जाता? और क्यों उन्हें छोड़ कर शूद्रोंके समवसरणमें जाने न जानेकी बातको व्यर्थ उठाया जाता है? जैन शास्त्रोंमें शूद्रोंके द्वारा पूजनकी और उस पूजनके उत्तम फलकी कथाएँ ही नहीं मिलतीं बल्कि शूद्रोंको स्पष्ट तौरसे नित्यपूजनका अधिकारी घोषित किया गया है। साथ ही जैनगृहस्थों, अविरत-सम्यग्दृष्टियों, पाक्षिक श्रावकों और व्रती श्रावकों सभीको जिनपूजाका अधिकारी बतलाया गया है और शूद्र भी इन सभी कोटियोंमें आते हैं, इतना ही नहीं बल्कि श्रावकका ऊँचा दर्जा ११वीं प्रतिमा तक धारण कर सकते हैं और ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक भी हो सकते हैं। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके शब्दोंमें 'दान और पूजा श्रावकके मुख्य धर्म हैं, इन दोनोंके विना कोई श्रावक होता ही नहीं, ('दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा') और शूद्र तथा दस्सा दोनों जैनी तथा श्रावक भी होते हैं तब वे पूजनके अधिकारसे कैसे वञ्चित किये जासकते हैं? नहीं किये जा सकते। उन्हें पूजनाधिकारसे वञ्चित करनेवाला अथवा उनके पूजनमें अन्तराय (विघ्न) डालनेवाला घोर पापका भागी होता है, जिसका कुछ उल्लेख कुन्दकुन्दकी रयणसारगत 'खय कुट्ठ-सूल-मूलो' नामकी गाथासे जाना जाता है। इन सब विषयोंके प्रमाणोंका काफी संकलन और विवेचन 'जिनपूजाधिकारमीमांसा' में किया गया है और उन-में आदिपुराण तथा धर्मसंग्रहश्रावकाचारके प्रमाण भी संगृहीत हैं। उन सब प्रमाणों तथा विवेचनों और पूजन-विषयक जैन सिद्धान्तकी तरफसे आँखें बन्द करके इस प्रकारके चैलेंजकी योजना करना अध्यापकजीके एकमात्र कौटिल्यका द्योतक है। यदि कोई उनकी इस तर्कपद्धतिको अपनाकर उन्हींसे उलटकर यह कहने लगे कि 'महाराज, आप ही इन आदिपुराण तथा उत्तरपुराणके द्वारा शूद्रोंका सम-वसरणमें जाना निषिद्ध सिद्ध कीजिये, यदि आप ऐसा सिद्ध नहीं कर सकेंगे तो दस्साओंके पूजना-धिकारको निषिद्ध कहना आपका सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो जायगा' तो इससे अध्यापकजीपर कैसी बीतेगी, इसे वे स्वयं समझ सकेंगे। उनका तर्क उन्हींके गले-का हार हो जायेगा और उन्हें कुछ भी उत्तर देते बन नहीं पड़ेगा; क्योंकि उक्त दोनों ग्रन्थोंके आधारपर प्रकृत विषयके निर्णयकी बातको उन्हींने उठाया है और उनमें उनके अनुकूल कुछ भी नहीं है।

चौथे, 'उस पापका भागी कौन होगा' यह जो अप्रासङ्गिक प्रश्न उठाया गया है वह अध्यापकजीकी हिमाक़तका द्योतक है। व्याकरणाचार्यजीने तो आगमके विरुद्ध कोई उपदेश नहीं दिया, उन्होंने तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अधिकारीको उसका अधिकार दिलाकर अथवा अधिकारी घोषित करके पुण्यका ही कार्य किया है। अध्यापकजी अपने विषयमें सोचें कि वे जैनी दस्साओं तथा शूद्रोंके सर्व साधारण नित्यपूजनके अधिकारको भी छीनकर कौनसे पापका उपार्जन कर रहे हैं और उस पापफलसे अपनेको कैसे बचा सकेंगे जो कुन्दकुन्दाचार्यकी उक्त गाथामें क्षय, कुष्ठ, शूल, रक्तविकार, भगन्दर, जलोदर, नेत्रपीड़ा, शिरोवेदना, शीत-उष्णके आताप और (कुयोनियोंमें) परिभ्रमण आदिके रूपमें वर्णित है।

पाँचवें, हरिवंशपुराणका जो श्लोक प्रमाणमें उद्धृत किया गया है वह अध्यापकजीकी सूचनानुसार न तो ५९वें सर्गका है और न १९०वें नवम्बरका, बल्कि ५७वें सर्गका १७३वाँ श्लोक है। उद्धृत भी वह गलतरूपमें किया गया है, उसका पूर्वार्ध तो मुद्रित प्रतिमें जैसा अशुद्ध छपा है प्रायः वैसा ही रख दिया गया है[1] और उत्तरार्ध कुछ बदला हुआ मालूम होता है। मुद्रित प्रतिमें वह "विकलाँगेंद्रियोद्भ्रांता परियति वहिस्ततः" इस रूपमें छपा है, जो प्रायः ठीक है; परन्तु अध्यापकजीने उसे अपने चैलेञ्जमें "विकलांगेन्द्रियोज्ञाता पारियत्ति वहिस्तताः" यह रूप दिया है, जिसमें 'ज्ञाता', 'पारियत्ति' और 'तताः' ये तीन शब्द अशुद्ध हैं और श्लोकमें अर्थभ्रम पैदा करते हैं। यदि यह रूप अध्यापकजीका दिया हुआ न होकर प्रेसकी किसी गलतीका परिणाम है तो अध्यापकजीको चैलेञ्जका अङ्ग होनेके कारण उसे अगले अङ्कमें सुधारना चाहिये था अथवा कमसे कम सुधारकशिरोमणिके पास तो अपने चैलेञ्जकी एक शुद्ध कापी भेजनी चाहिये थी; परन्तु चैलेञ्जके नामपर यदि यों ही वाह-वाही लूटनी हो तो फिर ऐसी बातोंकी तरफ ध्यान तथा उनके लिये परिश्रम भी कौन करे? अस्तु; उक्त श्लोक अपने शुद्धरूपमें इस प्रकार है:—

पापशीला विकुर्वाणाः शूद्राः पाखण्ड-पाटवाः ।
विकलांगेन्द्रियोद्भ्रान्ताः परियन्ति वहिस्ततः ॥१७३॥

इसमें शूद्रोंके समवसरणमें जानेका कहीं भी स्पष्टतया कोई निषेध नहीं है, जिसकी अध्यापकजीने अपने चैलेञ्जमें घोषणा की है। मालूम होता है अध्यापकजीको पं० गजाधरलालजीके गलत अनुवाद अथवा अर्थपरसे कुछ भ्रम होगया है, उन्होंने ग्रन्थके पूर्वाऽपर सन्दर्भपरसे उसकी जाँच नहीं की अथवा अर्थको अपने विचारोंके अनुकूल पाकर उसे जाँचने की जरूरत नहीं समझी, और यही सम्भवतः उनकी भ्रान्ति, मिथ्या धारणा एवं अन्यथा प्रवृत्तिका मूल है। पं० गजाधरलालजीका हरिवंशपुराणका अनुवाद साधारण चलता हुआ अनुवाद है, इसीसे अनेक स्थलोंपर बहुत कुछ स्खलित है और ग्रन्थ-गौरवके अनुरूप नहीं है। उन्होंने अनुवादसे पहले कभी इस ग्रन्थका स्वाध्याय तक नहीं किया था, सीधा सादा पुराण ग्रन्थ समझकर ही वे इसके अनुवादमें प्रवृत्त होगये थे और इससे उत्तरोत्तर कितनी ही कठिनाइयाँ झेलकर 'यथा कथञ्चित्' रूपमें वे इसे पूरा कर पाये थे, इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं अपनी प्रस्तावना (पृ० ४) में किया है और अपनी त्रुटियों तथा अशुद्धियोंके आभासको भी साथमें व्यक्त किया है। इस श्लोकके अनुवादपरसे ही पाठक इस विषयका कितना ही अनुभव प्राप्त कर सकेंगे। उनका वह अनुवाद, जिसे अध्यापकजीने चैलेञ्जमें उद्धृत किया है, इस प्रकार है—

"जो मनुष्य पापी नीचकर्म करने वाले शूद्र पाखण्डी विकलांग और विकलेन्द्रिय होते वे समाशरणके बाहर ही रहते और वहाँसे ही प्रदक्षिणा पूर्वक नमस्कार करते थे।"

इसमें 'उद्भ्रान्ताः' पदका अनुवाद तो बिल्कुल ही छूट गया है, 'पापशीलाः'का अनुवाद 'पापी' तथा 'पाखण्डपाटवाः'का अनुवाद 'पाखण्डी' दोनों ही अपूर्ण तथा गौरवहीन हैं और "समोशरणके बाहर ही रहते और वहाँसे ही प्रदक्षिणापूर्वक नमस्कार करते थे" इस अर्थके वाचक मूलमें कोई पद ही नहीं हैं, भूतकालकी क्रियाका बोधक भी कोई पद नहीं है; फिर भी अपनी तरफसे इस अर्थकी कल्पना करली गई है अथवा 'परियन्ति बहिस्ततः' इन शब्दोंपरसे

१ यथा—"पापशीलाः विकुर्माणाः शूद्राः पाखण्ड पांडवाः"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुवादकको भारी भ्रान्ति हुई जान पड़ती है। 'परियन्ति' वर्तमानकाल-सम्बन्धी बहुवचनान्त पद है, जिसका अर्थ होता है 'प्रदक्षिणा करते हैं'— न कि 'प्रदक्षिणापूर्वक नमस्कार करते थे'। और 'वहिस्ततः' का अर्थ है उसके बाहर। उसके किसके? समवसरण के नहीं बल्कि उस श्रीमण्डपके बाहर जिसे पूर्ववर्ती श्लोक[1]में 'अन्तः' पदके द्वारा उल्लेखित किया है, जहाँ भगवान्की गन्धकुटी होती है और जहाँ चक्रपीठपर चढ़कर उत्तम भक्तजन भगवानकी तीन वार प्रदक्षिणा करते हैं, अपनी शक्ति तथा विभवके अनुरूप यथेष्ट पूजा करते हैं, वन्दना करते हैं और फिर हाथ जोड़े हुए अपनी-अपनी सोपानोंसे उतर कर आनन्दके साथ यथा स्थान बैठते हैं। और जिसका वर्णन आगेके निम्न पद्योंमें दिया है:—

छत्रचामरभृङ्गाद्यवहाथ जयाजिरे ।
आप्तैरनुगताः कृत्वा विशन्त्यंजलिमीश्वराः ॥१७४॥
प्रविश्य विधिवद्भक्त्या प्रणम्य मणिमौलयः ।
चक्रपीठं समारुह्य परियन्ति त्रिरीश्वरम् ॥१७५॥
पूजयन्तो यथाकामं स्वशक्तिविभवार्चनैः ।
सुराऽसुरनरेन्द्राद्या नामादेश(?) नमन्ति च ॥१७६॥
ततोऽवतीर्य सोपानैः स्वैः स्वैः स्वाञ्जलिमौलयः ।
रोमाञ्चव्यक्तहर्षास्ते यथास्थानं समासते ॥१७७॥
—हरिवंशपुराण सर्ग ५७

इन पद्योंके साथमें आदिपुराणके निम्न पद्योंको भी ध्यानमें रखना चाहिये, जिनमें भरतचक्रवर्तीके समवसरणस्थित श्रीमण्डप-प्रवेश आदिका वर्णन है और जिनपरसे संक्षेपमें यह जाना जाता है कि मानस्तम्भोंको आदि लेकर समवसरणकी कितनी भूमि और कितनी रचनाओंको उल्लङ्घन करनेके बाद अन्तःप्रवेशकी नौबत आती है, और इस लिये अन्तःप्रवेशका आशय श्रीमण्डप-प्रवेशसे है, जहाँ चक्रपीठादिके साथ गन्धकुटी होती है, न कि समवसरण-प्रवेशसे:—

परीत्य पूजयन्मानस्तम्भानत्यैत्ततः परम् ।
खातां लतावनं सालं वनानां च चतुष्टयम् ॥१८॥
द्वितीयसालमुत्क्रम्य ध्वजान्कल्पद्रुमावलिम् ।
स्तूपान्प्रासादमालां च पश्यन् विस्मयमाप सः ॥१७॥
ततो दौवारिकैर्देवैः सम्भ्राम्यद्भिः प्रवेशितः ।
श्रीमण्डपस्य वैदग्धीं सोऽपश्यत्स्वर्गजित्वरीम् ॥१६॥
ततः प्रदक्षिणीकुर्वन्धर्मचक्रचतुष्टयम् ।
लक्ष्मीवान्पूजयामास प्राप्य प्रथमपीठिकाम् ॥१९॥
ततो द्वितीयपीठस्थान् विभोरष्टौ महाध्वजान् ।
सोऽर्चयामास सम्प्रीतः पूतैर्गन्धादिवस्तुभिः ॥२०॥
मध्ये गन्धकुटीद्धर्द्धि परार्ध्ये हरिविष्टरे ।
उदयाचलमूर्धस्थमिवार्कं जिनमैक्ष्यत ॥२१॥
—आदिपुराण पर्व २४

इन सब प्रमाणोंकी रोशनीमें 'वहिस्ततः' पदोंका वाच्य श्रीमण्डपका बाह्य प्रदेश ही हो सकता है— समवसरणका बाह्य प्रदेश नहीं; जो कि पूर्वाऽपर कथनोंके विरुद्ध पड़ता है। और इस लिये पं० गजाधरलालजीने १७२वें पद्यमें प्रयुक्त हुए 'अन्तः' पदका अर्थ "समवसरणमें" और १७३वें पद्यमें प्रयुक्त 'वहिस्ततः' पदोंका अर्थ 'समवसरणके बाहर' करके भारी भूल की है। अध्यापकजीने विवेकसे काम न लेकर अन्धानुसरणके रूपमें उसे अपनाया है और इसलिये वे भी उस भूलके शिकार हुए हैं। उन्हें अब समझ लेना चाहिये कि हरिवंशपुराणका जो पद्य उन्होंने प्रमाणमें उपस्थित किया है वह समवसरणमें शूद्रादिकोंके जानेका निषेधक नहीं है बल्कि उनके जानेका स्पष्ट सूचक है; क्योंकि वह उनके लिये समवसरणमें श्रीमण्डपके बाहर प्रदक्षिणा-विधिका विधायक है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि 'शूद्राः' पदके साथमें जो 'विकुर्वाणाः' विशेषण लगा हुआ है वह उन शूद्रोंके असत् शूद्र होनेका सूचक है जो खोटे अथवा नीचकर्म किया करते हैं, और इसलिये सत्शूद्रोंसे इस प्रदक्षिणा-विधिका सम्बन्ध नहीं है—वे अपनी रूचि तथा भक्तिके अनुरूप श्रीमण्डपके भीतर जाकर गन्धकुटीके पाससे भी प्रदक्षिणा कर सकते हैं। प्रदक्षिणाके समवसरणमें दो ही प्रधान मार्ग नियत होते हैं—

[1] प्रादक्षिण्येन वन्दित्वा मानस्तम्भमनादितः ।
उत्तमाः प्रविशन्त्यन्तरुत्तमाहितभक्तयः ॥ १७२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक गन्धकुटीके पास चक्रपीठकी भूमिपर और दूसरा श्रीमण्डपके बाह्य प्रदेशपर। हरिवंशपुराणके उक्त श्लोकमें श्रीमण्डपके बाह्य प्रदेशपर प्रदक्षिणा करने वालोंका ही उल्लेख है और उनमें प्रायः वे लोग शामिल हैं जो पाप करनेके आदी हैं—आदतन (स्वभावतः) पाप किया करते हैं, खोटे या नीच कर्म करने वाले असत् शूद्र हैं, धूर्तताके कार्यमें निपुण (महाधूर्त) हैं, अङ्गहीन अथवा इन्द्रियहीन हैं और पागल हैं अथवा जिनका दिमाग चला हुआ है। और इस लिये समवसरणमें प्रवेश न करने वालोंके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

छठे, अध्यापकजीने व्याकरणाचार्यजीके सामने उक्त श्लोक और उसके उक्त अर्थको रखकर उनसे जो यह अनुरोध किया है कि "आप अन्य इतिहासिक ग्रन्थों (आदिपुराण-उत्तरपुराण)के प्रमाणों द्वारा इसके अविरुद्ध सिद्ध करके दिखलावें और परस्परमें विरोध होनेका भी ध्यान अवश्य रक्खें" वह बड़ा ही विचित्र और बेतुका मालूम होता है! जब अध्यापक जी व्याकरणाचार्यजीके कथनको आगमविरुद्ध सिद्ध करनेके लिये उनके समक्ष एक आगम-वाक्य और उसका अर्थ प्रमाणमें रख रहे हैं तब उन्हींसे उसके अविरुद्ध सिद्ध करनेके लिये कहना और फिर अविरोधमें भी विरोधकी शङ्का करना कोरी हिमाक़तके सिवाय और क्या हो सकता है? और व्याकरणाचार्यजी भी अपने विरुद्ध उनके अनुरोधको माननेके लिये कब तैयार हो सकते हैं? जान पड़ता है अध्यापकजी लिखना तो कुछ चाहते थे और लिख गये कुछ और ही हैं, और यह आपकी स्खलित भाषा तथा असावधान लेखनीका एक खास नमूना है जिसके बल-बूतेपर आप सुधारकोंको लिखित शास्त्रार्थका चैलेंज देने बैठे हैं!!

*सातवें, शूद्रोंका समवसरणमें जाना जब अध्यापकजीके उपस्थित किये हुए हरिवंशपुराणके प्रमाणसे ही सिद्ध है तब वे लोग वहाँ जाकर भगवानकी पूजा-*वन्दनाके अनन्तर उनकी दिव्य वाणीको भी सुनते हैं, जो सारे समवसरणमें व्याप्त होती है, और उसके फलस्वरूप श्रावकके व्रतोंको भी ग्रहण करते हैं, जिन के ग्रहणका पशुओंको भी अधिकार है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। फिर आदिपुराण-उत्तरपुराणके आधारपर उसको अलगसे सिद्ध करनेकी जरूरत भी क्या रह जाती है? कुछ भी नहीं।

इसके सिवाय, किसी कथनका किसी ग्रन्थमें यदि विधि तथा प्रतिषेध नहीं होता तो वह कथन उस ग्रन्थके विरुद्ध नहीं कहा जाता। इस बातको आचाय वीरसेनने धवलाके क्षेत्रानुयोग-द्वारमें निम्न वाक्य-द्वारा व्यक्त किया है—

"ण च सत्तरज्जुबाहल्लं करणाणिओगसुत्त-विरुद्धं, तत्थ विधिप्पडिसेधाभावादो।" (पृ० २२)

अर्थात्—लोककी उत्तरदक्षिण सर्वत्रसातराजु मोटाईका जो कथन है वह 'करणानुयोगसूत्र'के विरुद्ध नहीं है; क्योंकि उस सूत्रमें उसका यदि विधान नहीं है तो प्रतिषेध भी नहीं है।

शूद्रोंका समवसरणमें जाना, पूजावन्दन करना और श्रावकके व्रतोंका ग्रहण करना इन तीनों बातों-का जब आदिपुराण तथा उत्तरपुराणमें स्पष्टरूपसे कोई विधान अथवा प्रतिषेध नहीं है तब इनके कथनको आदिपुराण तथा उत्तरपुराणके विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। वैसे भी इन तीनों बातोंका कथन आदिपुराणादिकी रीति, नीति और पद्धतिके विरुद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि आदिपुराणमें मनुष्योंकी वस्तुतः एक ही जाति मानी है, उसीके वृत्ति-(आजीविका)भेदसे ब्राह्मणादिक चार भेद बतलाये हैं[1], जो वास्तविक नहीं हैं। उत्तरपुराणमें भी साफ कहा है कि इन ब्राह्मणादि वर्णों-जातियोंका आकृति आदिके भेदको लिये हुए कोई शाश्वत लक्षण भी गो-अश्वादि जातियोंकी तरह मनुष्य-शरीरमें नहीं *पाया जाता, प्रत्युत इसके शूद्रादिके योगसे ब्राह्मणी* आदिकमें गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है, जो

१ मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ ३८-४५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वास्तविक जाति भेदके विरुद्ध है [1]। इसके सिवाय, आदिपुराणमें दूषित हुए कुलोंकी शुद्धि और अनक्षरम्लेच्छों तकको कुलशुद्धिआदिके द्वारा अपनेमें मिला लेनेकी स्पष्ट आज्ञाएँ भी पाई जाती हैं[2]। ऐसे उदार उपदेशोंकी मौजूदगीमें शूद्रोंके समवसरणमें जाने आदिको किसी तरह भी आदिपुराण तथा उत्तरपुराणके विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। विरुद्ध न होनेकी हालतमें उनका 'अविरुद्ध' होना सिद्ध है, जिसे सिद्ध करनेके लिये अध्यापकजी १००) रु०के पारितोषिककी घोषणा कर रहे हैं और उन रुपयोंको बाबू राजकृष्ण प्रेमचन्दजी दरियागञ्ज कोठी नं० २३ देहलीके पास जमा बतलाते हैं।

चैलेञ्ज-लेखमें मेरी 'जिनपूजाधिकामीमांसा' पुस्तकका एक अंश उद्धृत किया गया है, जो निम्न प्रकार है—

"श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराण (सर्ग २) में, महावीर स्वामीके समवसरणका वर्णन करते हुए लिखा है—समवसरणमें जब श्रीमहावीर स्वामीने मुनिधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया तो उसको सुनकर बहुतसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग मुनि होगये और चारों वर्णोंके स्त्री-पुरुषोंने अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंने श्रावकके बारह व्रत धारण किये। इतना ही नहीं किन्तु उनकी पवित्र-वाणीका यहाँ तक प्रभाव पड़ा कि कुछ तिर्यञ्चोंने भी श्रावकके व्रत धारण किये। इससे, पूजा-वन्दना और धर्मश्रवणके लिये शूद्रोंका समवसरणमें जाना प्रगट है।"

इस अंशको 'समोशरण' जैसे कुछ शब्द-परिवर्तनके साथ उद्धृत करनेके बाद अध्यापकजी लिखते हैं—"इस लेखको आप संस्कृत हरिवंशपुराणके प्रमाणों द्वारा सत्य सिद्ध करके दिखलावें। आपको इसकी असलियत स्वयं मालूम होजावेगी।"

मेरी जिनपूजाधिकारमीमांसा पुस्तक आजसे कोई ३५ वर्ष पहले अप्रेल सन् १९१३में प्रकाशित हुई थी। उस वक्त तक जिनसेनाचार्यके हरिवंश-पुराणकी पं० दौलतरामजी कृत भाषा वचनिका ही लाहौरसे (सन् १९१०में) प्रकाशमें आई थी और वही अपने सामने थी। उसमें लिखा था—

"जिस समय जिनराजने व्याख्यान किया उस समय समवसरणमें सुर-असुर नर तिरयञ्च सभी थे, सो सबके समीप सर्वज्ञने मुनिधर्मका व्याख्यान किया, सो मुनि होनेको समर्थ जो मनुष्य तिनमें केईक नर संसारसे भयभीत परिग्रहका त्याग कर मुनि भये शुद्ध है जाति कहिये मातृपक्ष कुल कहिये पितृपक्ष जिनके ऐसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य सैकड़ों साधु भये॥ १३१, १३२॥ ....और कैएक मनुष्य चारों ही वर्णके पञ्च अणुव्रत तीन गुणव्रत चार शिक्षा व्रत धार श्रावक भये। और चारों वर्णकी कईएक स्त्री श्राविका भई ॥१३४॥ और सिंहादिक तिर्यंच बहुत श्रावके व्रत धारते भये, यथाशक्ति नेमविषै तिष्ठे ॥१३५॥"

इस कथनको लेकर ही मैंने जिनपूजाधिकार-मीमांसाके उक्त लेखांशकी सृष्टि की थी। पाठक देखेंगे, कि इस कथनके आशयके विरुद्ध उसमें कुछ भी नहीं है। परन्तु अध्यापकजी इस कथनको शायद मूलग्रन्थके विरुद्ध समझते हैं और इसी लिये संस्कृत हरिवंशपुराणपरसे उसे सत्य सिद्ध करनेके लिये कहते हैं। उसमें भी उनका आशय प्रायः उतने ही अंशसे जान पड़ता है जो शूद्रोंके समवसरणमें उपस्थित होकर व्रत ग्रहणसे सम्बन्ध रखता है और उनके प्रकृत चैलेंज-लेखका विषय है। अतः उसीपर

---

१ वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधान-प्रवर्तनात्॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाऽश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते॥—उ. पु. गुणभद्र

२ "कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणम्।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलम्॥४०-१६८
तदाऽस्योपनयार्हत्वं पुत्र-पौत्रादि-सन्ततौ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः॥—१६९॥
"स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजा-बाधा-विधायिनः।
कुलशुद्धि-प्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः॥ ४२-१७९॥
—आदिपुराणे, जिनसेनः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ विचार किया जाता है और यह देखा जाता है कि क्या पंडित दौलतरामजीका वह कथन मूलके आशयके विरुद्ध है। श्रावकीय व्रतोंके ग्रहणका उल्लेख करने वाला मूलका वह वाक्य इस प्रकार है:—

पंचधाऽणुव्रतं केचित् त्रिविधं च गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतं चतुर्भेदं तत्र स्त्री-पुरुषा दधुः ॥१३४॥

इसका सामान्य शब्दार्थ तो इतना ही है कि 'समवसरण-स्थित कुछ स्त्रीपुरुषोंने पंच प्रकार अणुव्रत तीन प्रकार गुणव्रत और चार प्रकार शिक्षाव्रत ग्रहण किये।' परन्तु 'विशेषार्थकी दृष्टिसे' उन स्त्रीपुरुषों को चारों वर्णोंके बतलाया गया है; क्योंकि किसी भी वर्णके स्त्री-पुरुषोंके लिये समवसरणमें जाने और व्रतोंके ग्रहण करनेका कहीं कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसके सिवाय, ग्रन्थके पूर्वाऽपर कथनोंसे भी इसकी पुष्टि होती है और वही अर्थ समीचीन होता है जो पूर्वाऽपर कथनोंको ध्यानमें रखकर अविरोध रूपसे किया जाता है। समवसरणमें असत् शूद्र भी जाते हैं यह हम श्रीमण्डपसे बाहर उनके प्रदक्षिणा-विधायक वाक्यके विवेचनपरसे ऊपर जान चुके हैं। यहाँ पूर्वाऽपर कथनोंके दो नमूने और नीचे दिये जाते हैं:—

(क) समवसरणके श्रीमण्डपमें वलयाकार कोष्ठकोंके रूपमें जो बारह सभा-स्थान होते हैं उनमेंसे मनुष्योंके लिये केवल तीन स्थान नियत होते हैं— पहला गणधरादि मुनियोंके लिये, तीसरा आर्यिकाओं के लिये और ११वाँ शेष सब मनुष्योंके लिये। इस ११वें कोठेका वर्णन करते हुए हरिवंशपुराणके दूसरे सर्गमें लिखा है—

सपुत्र-वनिताऽनेक-विद्याधर-पुरस्सराः।
न्यषीदन् मानुषा नाना-भाषा-वेष-रुचस्ततः ॥८६॥

अर्थात्—१०वें कोठेके अनन्तर पुत्र और वनिताओं-सहित अनेक विद्याधरोंको आगे करके मनुष्य बैठे, जो कि (प्रान्तादिके भेदोंसे) नाना भाषाओंके बोलने वाले, नाना वेषोंको धारण करने वाले और नाना वर्णों वाले थे।"

इसमें किसी भी वर्ण अथवा जाति-विशेषके मानवोंके लिये ११वें कोठेको रिजर्व नहीं किया गया है बल्कि 'मानुषाः' जैसे सामान्य पदका प्रयोग करके और उसके विशेषणको 'नाना' पदसे विभूषित करके सब के लिये उसे खुला रक्खा गया है। साथमें 'विद्याधर-पुरस्सराः' विशेषण लगाकर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उस कोठेमें विद्याधर और भूमिगोचरी दोनों प्रकारके मनुष्य एक साथ बैठते हैं। विद्याधरका 'अनेक' विशेषण उनके अनेक प्रकारोंका द्योतक है, उनमें मातङ्ग (चाण्डाल) जातियोंके भी विद्याधर होते हैं और इस लिये उन सबका भी उसके द्वारा समावेश समझना चाहिए।

(ख) ५८वें सर्गके तीसरे पद्यमें भगवान नेमिनाथ की वाणीको 'चतुर्वर्णाश्रमाश्रया' विशेषण दिया गया है, जिसका यह स्पष्ट आशय है कि समवसरणमें भगवानकी जो वाणी प्रवर्तित हुई वह चारों वर्णों और चारों आश्रमोंका आश्रय लिये हुए थी—अर्थात् चारों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चारों आश्रमों ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यस्तको लक्ष्यमें रखकर प्रवर्तित हुई थी। और इसलिये वह समवसरणमें चारों वर्णों तथा चारों आश्रमोंके प्राणियोंकी उपस्थितिको और उनके उसे सुनने तथा ग्रहण करनेके अधिकारको सूचित करती है।

ऐसी हालतमें पं० दौलतरामजीने अपनी भाषा वचनिकामें 'स्त्रीपुरुषाः' पदका अर्थ जो 'चारों वर्णके स्त्रीपुरुष' सुझाया है वह न तो असत्य है और न मूलग्रन्थके विरुद्ध है। तदनुसार जिनपूजाधिकारमीमांसाकी उक्त पंक्तियोंमें मैंने जो कुछ लिखा है वह भी न असत्य है और न ग्रन्थकारके आशयके विरुद्ध है। और इसलिये अध्यापकजीने कोरे शब्दछलका आश्रय लेकर जो कुछ कहा है वह बुद्धि और विवेक से काम न लेकर ही कहा जा सकता है। शायद अध्यापकजी शूद्रोंमें स्त्री-पुरुषोंका होना ही न मानते हों और न उन्हें मनुष्य ही जानते हों, और इसीसे 'मानुषाः' तथा 'स्त्री-पुरुषाः' पदोंका उन्हें वाच्य ही न समझते हों !!!

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि जिस हरिवंशपुराणके कुछ शब्दोंका गलत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आश्रय लेकर अध्यापकजी शूद्रों तथा दस्साओंको जिनपूजाके अधिकारसे वञ्चित करना चाहते हैं उसके २६वें सर्गमें वसुदेवकी मदनवेगा-सहित 'सिद्धकूट-जिनालय' की यात्राके प्रसङ्गपर उस जिनालयमें पूजा-वन्दनाके बाद अपने-अपने स्तम्भका आश्रय लेकर बैठे हुए[1] मातङ्ग (चाण्डाल) जातिके विद्याधरोंका जो परिचय[2] कराया गया है वह किसी भी ऐसे आदमी की आँखें खोलनेके लिये पर्याप्त है जो शूद्रों तथा दस्साओंके अपने पूजन-निषेधको हरिवंशपुराणके आधारपर प्रतिष्ठित करना चाहता है। क्योंकि उस-परसे इतना ही स्पष्ट मालूम नहीं होता कि मातङ्ग जातियोंके चाण्डाल लोग भी तब जैनमन्दिरमें जाते और पूजन करते थे बल्कि यह भी मालूम होता है कि श्मशान-भूमिकी हड्डियोंके आभूषण पहने हुए, वहाँ-की राख बदनसे मले हुए तथा मृगछालादि ओढ़े, चमड़ेके वस्त्र पहिने और चमड़ेकी मालाएँ हाथोंमें लिये हुए भी जैनमन्दिरमें जा सकते थे[3], और न केवल जा ही सकते थे बल्कि अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार पूजा करनेके बाद उनके वहाँ बैठने-के स्थान भी नियत थे, जिससे उनका जैनमन्दिरमें जाने आदिका और भी नियत अधिकार पाया जाता है[4]।

मेरे उक्त लेखांश और उसपर अपने वक्तव्यके अनन्तर अध्यापकजीने महावीरस्वामीके समवसरण-वर्णनसे सम्बंध रखने वाला धर्मसंग्रहश्रावकाचारका एक श्लोक निम्न प्रकार अर्थसहित दिया है—

"मिथ्यादृष्टिरभव्योप्यसंज्ञी कोऽपि न विद्यते ।
यश्चानध्यवसायोऽपि यः संदिग्धो विपर्ययः ॥१३६॥

अर्थात्—श्रीजिनदेवके समोशरणमें मिथ्यादृष्टि-अभव्य - असंज्ञी - अनध्यवसायी - संशयज्ञानी तथा मिथ्यात्वी जीव नहीं रहते हैं।"

इस श्लोक और उसके गलत अर्थको उपस्थित करके अध्यापकजी बड़ी धृष्टता और गर्वोक्तिके साथ लिखते हैं—

"बाबू जुगलकिशोरजीके निराधार लेखको और धर्मसंग्रहश्रावकाचारके प्रमाण सहित लेखको आप मिलान करें—पता लग जायगा कि वास्तवमें आगम-के विरुद्ध जैन जनताको धोखा कौन देता है ?"

मेरा जिनपूजाधिकारमीमांसा वाला उक्त लेख निराधार नहीं है यह सब बात पाठक ऊपर देख चुके हैं; अब देखना यह है कि अध्यापकजीके द्वारा प्रस्तुत धर्मसंग्रहश्रावकाचारका लेख कौनसे प्रमाणको साथमें लिये हुए है और उन दोनोंके साथ आप मेरे लेखकी किस बातका मिलान कराकर आगमविरुद्ध कथन और धोखादही जैसा नतीजा निकालना चाहते हैं ? धर्मसंग्रहश्रावकाचारके उक्त श्लोकके साथ अनु-वादको छोड़कर दूसरा कोई प्रमाण-वाक्य नहीं है। मालूम होता है अध्यापकजीने अनुवादको ही दूसरा प्रमाण समझ लिया है, जो मूलके अनुरूप भी नहीं है और न मेरे उक्त लेखके साथ दोनोंका कोई सम्बंध ही है। मेरे लेखमें चारों वर्णोंके मनुष्योंके समवसरण-में जाने और व्रत ग्रहण करनेकी बात कही गई है, जब कि धर्मसंग्रहश्रावकाचारके उक्त श्लोक और अनु-

---

१ कृत्वा जिनमह खेटाः प्रवन्द्य प्रतिमागृहम् ।
तस्थुः स्तम्भानुपाश्रित्य बहुवेषा यथायथम् ॥ ३ ॥

२ देखो, श्लोक १४ से २३ तथा 'विवाहक्षेत्रप्रकाश' पृष्ठ ३१ से ३५। यहाँ उन दसमेंसे दो श्लोक नमूनेके तौरपर इस प्रकार हैं—

श्मशानाऽस्थि कृतोत्तंसा भस्मरेणु-विधूसराः ।
श्मशान-निलयास्त्वेते श्मशान-स्तम्भमाश्रिताः ॥१६॥
कृष्णाऽजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्बर-स्रजः ।
कानील-स्तम्भमध्येत्य स्थिताः काल-श्व-पाकिनः ॥१८॥

३ यहाँपर इस उल्लेखपरसे किसीको यह समझनेकी भूल न करनी चाहिए कि लेखक आजकल वर्तमान जैनमन्दिरों-में भी ऐसे अपवित्र वेषसे जानेकी प्रवृत्ति चलाना चाहता है।

४ श्रीजिनसेनाचार्यने ९वीं शताब्दीके वातावरणके अनुसार भी ऐसे लोगोंका जैनमन्दिरमें जाना आदि आपत्तिके योग्य नहीं ठहराया और न उससे मन्दिरके अपवित्र हो जानेको ही सूचित किया। इससे क्या यह न समझ लिया जाय कि उन्होंने ऐसी प्रवृत्तिका अभिनन्दन किया है अथवा उसे बुरा नहीं समझा ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बादमें उसके विरुद्ध कुछ भी नहीं है। क्या अध्यापक जी शूद्रोंको सर्वथा मिथ्यादृष्टि, अभव्य, असंज्ञी (मनरहित) अनध्यवसायी, संशयज्ञानी तथा विपरीत (या अपने अर्थके अनुरूप 'मिथ्यात्वी') ही समझते हैं और इसीसे उनका समवसरणमें जाना निषिद्ध मानते हैं? यदि ऐसा है तो आपके इस आगम-ज्ञान और प्रत्यक्षज्ञानपर रोना आता है; क्योंकि आगमसे अथवा प्रत्यक्षसे इसकी कोई उपलब्धि नहीं होती—शूद्र लोग इनमेंसे किसी एक भी कोटिमें सर्वथा स्थित नहीं देखे जाते। और यदि ऐसा नहीं है अर्थात् अध्यापकजी यह समझते हैं कि शूद्र लोग सम्यग्दृष्टि, भव्य, संज्ञी, अध्यवसायी, असंशयज्ञानी और अविपरीत (अमिथ्यात्वी) भी होते हैं तो फिर उक्त श्लोक और उसके अर्थको उपस्थित करनेसे क्या नतीजा? वह उनका कोरा चित्तभ्रम अथवा पागलपन नहीं तो और क्या है? क्योंकि उससे शूद्रोंके समवसरणमें जानेका तब कोई निषेध सिद्ध नहीं होता। खेद है कि अध्यापकजी अपने बुद्धिव्यवसायके इसी बल-बूतेपर दूसरोंको आगमके विरुद्ध कथन करने वाले और जनताको धोखा देने वाले तक लिखनेकी धृष्टता करने बैठे हैं!!

अब मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि अध्यापक जीका उक्त श्लोकपरसे यह समझ लेना कि समवसरणमें मिथ्यादृष्टि तथा संशयज्ञानी जीव नहीं होते कोरा भ्रम है—उसी प्रकारका भ्रम है जिसके अनुसार वे 'विपर्यय' पदका अर्थ 'मिथ्यात्वी' करके 'मिथ्यादृष्टि' और 'मिथ्यात्वी' शब्दोंके अर्थमें अन्तर उपस्थित कर रहे हैं—और वह उनके आगमज्ञानके दिवालियेपनको भी सूचित करता है। क्योंकि आगम में कहीं भी ऐसा विधान नहीं है जिसके अनुसार सभी मिथ्यादृष्टियों तथा संशयज्ञानियोंका समवसरणमें जाना वर्जित ठहराया गया हो। बल्कि जगह-जगहपर समवसरणमें भगवान्के उपदेशके अनन्तर लोगोंके सम्यक्त्व-ग्रहणकी अथवा उनके संशयोंके उच्छेद होनेकी बात कही गई है और जो इस बातकी स्पष्ट सूचक है कि वे लोग उससे पहले मिथ्यादृष्टि थे अथवा उन्हें किसी विषयमें सन्देह था। दूर जानेकी भी जरूरत नहीं, अध्यापकजीके मान्य ग्रन्थ धर्मसंग्रहश्रावकाचारको ही लीजिये, उसके निम्न पद्यमें जिनेन्द्रसे अपनी अपनी शङ्काके पूछने और उनकी वाणीको सुनकर सन्देह-रहित होनेकी बात कही गई है—

निजनिज-हृदयाकूतं पृच्छन्ति जिनं नराऽमरा मनसा।
श्रुत्वाऽनक्षरवाणीं बुध्यन्तः स्युर्विसन्देहाः ॥३-५४॥

हरिवंशपुराणके ५८वें सर्गमें कहा है कि नेमिनाथकी वाणीको सुनकर कितने ही जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए, जिससे प्रगट होता है कि वे पहले सम्यग्दर्शनसे रहित मिथ्यादृष्टि थे। यथा:—

ते सम्यग्दर्शनं केचित्संयमासंयमं परे।
संयमं केचिदायाताः संसारावासभीरवः ॥३०७॥

भगवान् आदिनाथके समवसरणमें मरीचि मिथ्यादृष्टिके रूपमें ही गया, जिनवाणीको सुनकर उसका मिथ्यात्व नहीं छूटा, और सब मिथ्या तपस्वियोंकी श्रद्धा बदल गई और वे सम्यक् तपमें स्थित होगये परन्तु मरीचिकी श्रद्धा नहीं बदली और इस लिये अकेला वही प्रतिबोधको प्राप्त नहीं हुआ; जैसा कि जिनसेनाचार्यके आदिपुराण और पुष्दन्त-कृत महापुराणके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

"मरीचि-वर्ज्याः सर्वेऽपि तापसास्तपसि स्थिताः।"
—आदिपुराण २४-८२

"दंसणमोहणीय-पडिरुद्धउ एक्कु मरीइ णेय पडिबुद्धउ"
—महापुराण, संधि ११

वास्तवमें वे ही मिथ्यादृष्टि समवसरणमें नहीं जा पाते हैं जो अभव्य होते हैं—भव्य मिथ्यादृष्टि तो असंख्याते जाते हैं और उनमेंसे अधिकांश सम्यग्दृष्टि होकर निकलते हैं—और इस लिये 'मिथ्यादृष्टिः' तथा 'अभव्योऽपि' पदोंका एक साथ अर्थ किया जाना चाहिये, वे तीनों मिलकर एक अर्थके वाचक हैं और वह अर्थ है—'वह मिथ्यादृष्टि जो अभव्य भी है'। धर्मसंग्रहश्रा०के उक्त श्लोकका मूलस्रोत तिलोयपण्णत्तीकी निम्न गाथा है, जिसमें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'मिच्छादिट्ठिअभव्वा' एक पद है और एक ही प्रकारके व्यक्तियोंका वाचक है—

मिच्छाइट्ठिअभव्वा तेसुमसएणी ए होंति कइआई।
तह य अणज्झवसाया संदिद्धा विविहविवरीदा॥
४-९३२॥

इसी तरह 'संदिग्धः' पद भी संशयज्ञानीका वाचक नहीं है—संशयज्ञानी तो असंख्याते समवसरणमें जाते हैं और अधिकांश अपनी अपनी शङ्काओंका निरसन करके बाहर आते हैं—बल्कि उन मुश्तभा प्राणियोंका वाचक है जो बाह्यवेषादिके कारण अपने विषयमें शङ्कनीय होते हैं अथवा कपटवेषादिके कारण दूसरोंके लिये भयङ्कर (dangerous, risky) हुआ करते हैं। ऐसे प्राणी भी समवसरण-सभाके किसी कोठेमें विद्यमान नहीं होते हैं।

तीसरे नम्बरपर अध्यापकजीने सम्पादक जैनमित्रजीका एक वाक्य निम्न प्रकारसे उद्धृत किया है—

"समोशरणमें मानवमात्रके लिये जानेका पूर्ण अधिकार है चाहे वह किसी भी वर्णका अर्थात् जातिका चाण्डाल ही क्यों न हो।"

इसपर टीका करते हुए अध्यापकजीने केवल इतना ही लिखा है—"सम्पादक जैनमित्रजी अपनेसे विरुद्ध विचारवालेको पोंगापन्थी बतलाते हैं। और अपने लेख द्वारा समोशरणमें चाण्डालको भी प्रवेश करते हैं। बलिहारी आपकी बुद्धिकी।"

इससे सम्पादक जैनमित्रजी बहुत सस्ते छूट गये हैं! निःसन्देह उन्होंने बड़ा ग़ज़ब किया जो अध्यापकजी जैसे विरुद्ध विचारवालोंको 'पोंगापन्थी' बतला दिया! परन्तु अपने रामकी रायमें अध्यापकजीने उससे भी कहीं ज्यादा ग़ज़ब किया है जो समवसरणमें चाण्डालको भी प्रवेश कराने वालेकी बुद्धिपर 'बलिहारी' कह दिया!! क्योंकि पद्मपुराणके कर्ता श्रीरविषेणार्यने व्रती चाण्डालको भी ब्राह्मण बतलाया है—दूसरे सत्शूद्रादिकोंकी तो बात ही क्या है?—और स्वयं ही नहीं बतलाया बल्कि देवोंने—अर्हन्तों तथा गणधरोंने—बतलाया है ऐसा स्पष्ट निर्देश किया है—

"व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।"११-२०३

ऐसी हालतमें उन चाण्डालोंको समवसरणमें जानेसे कौन रोक सकता है? ब्राह्मण होनेसे उनका दर्जा तो शूद्रोंसे भी ऊँचा होगया!

और स्वामी समन्तभद्रने तो रत्नकरण्डश्रावकाचार (पद्य २८) में अव्रती चाण्डालको भी सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न होनेपर 'देव' कह दिया है और उन्होंने भी स्वयं नहीं कहा बल्कि देवोंने वैसा कहा है ऐसा 'देवा देवं विदुः' इन शब्दोंके द्वारा स्पष्ट निर्देश किया है। तब उस देव चाण्डालको समवसरणमें जानेसे कौन रोक सकता है, जिसे मानव होनेके अतिरिक्त देवका भी दर्जा मिल गया?

इसके सिवाय, म्लेच्छ देशोंमें उत्पन्न हुए म्लेच्छ मनुष्य भी सकल संयम (महाव्रत) धारण करके जैनमुनि हो सकते हैं ऐसा श्रीवीरसेनाचार्यने जयधवला टीकामें और श्रीनेमिचन्द्राचार्य (द्वितीय) ने लब्धिसार गाथा १९३की टीकामें व्यक्त किया है[१]। तब उन मुनियोंको समवसरणमें जानेसे कौन रोक सकता है? वे तो गन्धकुटीके पासके सबसे प्रधान गणधर-मुनिकोठेमें बैठेंगे, उनके लिये दूसरा कोई स्थान ही नहीं है।

ऐसी स्थितिमें अध्यापकजी किस किस आचार्यकी बुद्धिपर 'बलिहारी' होंगे? इससे तो बेहतर यही है कि वे अपनी ही बुद्धिपर बलिहारी होजाएँ और ऐसी अज्ञानतामूलक, उपहासजनक एवं आगमविरुद्ध व्यर्थकी प्रवृत्तियोंसे बाज़ आएँ।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
ता० २-६-१९४८

जुगलकिशोर मुख्तार

१ देखो, उक्त टीकाएँ तथा 'भगवान महावीर और उनका समय' नामक पुस्तक पृ० २६

वर्णीजीका हालका एक आध्यात्मिक पत्र

श्रीयुत् लाला जिनेश्वरदासजी (सहारनपुर) योग्य—

आपका पत्र श्रीभगतजीके पास आया—समाचार जानकर आश्चर्य हुआ। इतनी व्यग्रताकी आवश्यकता नहीं। यहाँ कोई प्रकारकी असुविधा नहीं। संसारमें पुण्य-पापके अनुकूल सर्वसामग्री स्वयमेव मिल जाती है और यह जो सामग्री है सो कुछ कल्याण-मार्गकी साधक नहीं, कल्याण-मार्गकी साधक तो अन्तरङ्गकी निर्मलता है, जहाँ परसे तटस्थता है। तटस्थता ही संसार-बन्धनको पैनी छैनी है। न तो संसार अपना बुरा करने वाला है और न कोई महापुरुष हमारा कल्याणका जनक है। हमने आज़तक अपनेको न जाना और न जाननेका प्रयत्न है, केवल परके व्यामोहमें पड़कर इस अनन्त संसारके पात्र बने। अतः अब इस पराधीनताको त्यागो, केवल अपनेको बनाओ। जहाँ आत्मा केवल बन जावेगी, बस सर्व आपत्तियोंका अन्त हो जावेगा। यह भावना त्यागो—जो हमसे परोपकार होता है या परसे हमारा उपकार होता है। न तो कोई उपकारक है और न अपकारक है। जैसे चिड़िया जालमें फँस जाती है इसीतरह हम भी इनके द्वारा कल्याण होगा—इस व्यामोहसे परके जालमें फँस जाते हैं, नाना प्रकारकी चेष्टाएँ कर परको प्रसन्न करना चाहते हैं। प्रथम तो वह हमारे अधीन नहीं और न उसका परिणमन हमारे अधीन है। थोड़े समयको कल्पना करो, उसका परिणमन हमारे अनुकूल हो भी गया तब उस परिणमनसे हमें क्या लाभ ? हमारा लाभ और अलाभ हमारे परिणमनके अधीन है। अतः कल्याणकी आकांक्षा है तब इन भूरिशः विकल्पजालोंको त्यागो, जिस दिन यह परिणमन होगा, स्वयमेव कल्याण हो जावेगा। समयानुकूल जो होवे सो होने दो, किसीके अधीन मत रहो। अपने आपको आप समझो, परकी चिन्ता त्यागो। और जो समय इन पत्रोंके लिखनेमें व्यय किया जाता है वह समय स्वात्म-चिन्तनमें लगाओ, स्वाध्यायका यही मर्म है। मेरी तो यह सम्मति है जो काम करो अपना हितका अंश पहले देखो। यदि उसमें आत्महित न हो तब चाहे श्रीभगवत्का अर्चन हो और चाहे संसार-सम्बन्धी कार्य हो, करनेकी आवश्यकता नहीं। जिस कार्यके करनेसे आत्मलाभ न हो वह कार्य करना व्यर्थ है। सम्यग्दृष्टि भगवत्-अर्चा करता है वहाँ उसे अशुभोपयोगकी निवृत्तिसे शान्ति मिलती है। शुभोपयोगको तो शान्तिका बाधक ही मानता है, परन्तु क्या करै मोह-के उदयमें उसे करना पड़ता है, यह तो शुभोपयोगकी बात रही। जिस समय उसकी विषयादिमें प्रवृत्ति होती है उस समय उस कार्यको वेदनाका इलाज समझकर करता है और जैसे कड़वी औषध पीकर रोगी रोगको दूर करता है तब विचारो रोगीको कड़वी औषधसे प्रेम है या रोग-निवृत्तिसे। एवं उस ज्ञानीकी दशा है जो चारित्र-मोहके उदयमें विषय-सेवन करता है। यद्यपि बहुतसे मनुष्य इस मर्मको न समझें, परन्तु जिनने शास्त्रका मर्म जाना है उन्हें तो इसे समझना कोई कठिन नहीं। अतः आप इस ओरकी चिन्ताको छोड़कर स्वाध्यायमें संलग्न रहिए। विशेष क्या लिखें, हम स्वयं इस जालमें आगए अन्यथा आपको पत्र लिखनेकी ही क्या आवश्यकता थी। आपके परिणमनके हम स्वामी नहीं, व्यर्थ ही चेष्टा कर रहे हैं, जो आप यों करो।

नोट—मैंने तो अन्तरङ्गसे यह निश्चय कर लिया जो आपकी प्रवृत्ति हमारे अनुकूल न हुई और न है और न होगी। एवं मेरी भी यही दशा है जो आपके अनुकूल न हूँ और न था और न हूँगा। इसी प्रकार सर्व संसारकी जानना।

आ. शु. चि.

गणेशप्रसाद वर्णी

(वैसशाखसुदि)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुत्ते

"माँ! यह आज इन्सानोंको क्या होगया है"?

"यह बावले होगये हैं बेटा"!

"बावले"?

"हाँ, बावले"।

"क्या इन्सान भी बावले हुआ करते हैं माँ"!

"अब यह इन्सान कहाँ रहे? हमारी तरह कुत्ते बन गये हैं यह लोग"।

"कुत्ते"?

"हाँ, हाँ, कुत्ते"!

"लेकिन, माँ! इनकी सूरत तो हमारी तरह नहीं बदली"।

"सूरत नहीं बदली तो क्या? करतूत तो हमारे जैसे होगये हैं बेटा! सूरत भी बदल जायगी।

"और यह तड़-तड़की आवाजें क्या थीं माँ"!

"यह इनके बावलेपनकी दवा है। इन्सान हमारे बावलेपनका इलाज ज़हरकी गोलियोंसे करते हैं और बन्दूककी गोलियोंसे उनका बावलापन दूर होता है"।

* * * *

परेडके मैदानमें मैले-कुचैले इन्सानोंकी भीड़में लाल झण्डेके नीचे बरफकी तरह सुफेद कपड़े पहने हुए एक इन्सान कह रहा था—"रोटी और दुनियावी ख्वाहिशात हासिल करनेका नाम ही ज़िन्दगी है। बाकी सब बातें बुरजुआ लोगोंकी मनघड़न्त हैं"।

जिन्दगी, बस रोटी और ख्वाहिशात हासिल करनेका नाम है! उफ़! उफ़!! उफ़!!! मेरी माँ ने बिल्कुल सच कहा था, आदमके बेटे कुत्ते बन गये हैं कुत्ते। लेकिन इनकी सूरत तो अभी तक नहीं बदली। वह भी बदल जायेगी। मन और वचन जब बदल गये हैं तो कायाको भी बदलते क्या देर लगेगी?

आखिर हमारी कौमी लुग़ात (जातीय कोष) में भी तो खाने-पीने और ख्वाहिशात हासिल करनेका नाम ही तो ज़िन्दगी है। ज़िन्दगीकी ख्वाहिशात क्या हैं—?

"दूसरोंके मुँहसे छीछड़े और हड्डियाँ छीननेके लिये आपसमें लड़ना, एक दूसरेको काटना, और अपनी जिन्सकी औरतोंसे .... उफ़, उफ़, उफ़! इन्सानी कुत्ते भी अब हमारी तरह सोचने लगे हैं। लेकिन यह बुरुजवा किस शै का नाम है? शायद कुत्ता बननेसे पहले इन्सानको बुरजुआ कहते थे।

* * * *

जल्सेसे लौट रहा था कि सामनेसे बेहिजाब फैशनेबिल औरतोंका गोल मुस्कराता, क़हक़हे लगाता आ रहा था। नज़दीक आनेपर मैंने सुना—

"अब औरतें मर्दोंकी मुहताज नहीं रहेंगी, वे खुद कमाकर खाएँगी"।

"यूरुपमें तो औरत हर क़िस्मकी ग़ुलामीसे आज़ाद होचुकी है"।

मैंने इत्मीनानकी साँस ली, हमारी कौमकी औरतें भी तो खुद कमाकर खाती हैं। वे भी तो किसीकी ग़ुलाम बनकर नहीं रहतीं। मैं अपने खयालोंमें डूबा हुआ था कि कानोंमें सुरीली आवाज़ आई:—

"ऐ इश्क़ कहीं ले चल इस पापकी दुनियासे"।

आवाज़की सीधमें निगाह दौड़ाई, दो नौजवान लड़के आँखें फाड़-फाड़कर इन औरतोंको देख रहे थे। उनके ओठोंपर हँसी खेल रही थी और आँखों में वही बेहया चमक थी जो हम कुत्तोंकी आँखोंमें कुत्तियोंको देखकर आ जाती है*।

* आगरेसे प्रकाशित मार्च माहके उर्दू 'शायर' से जनाब आज़ाद शाहपुरीकी कहानीका यह संक्षिप्त अंश साभार दिया जारहा है।

—गोयलीय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्यागका वास्तविक रूप

[परिशिष्ट]

(प्रवक्ता पूज्य श्रीक्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य)

आज अकिञ्चन्य धर्म है, पर दो द्वादशी होजानेसे आज भी त्याग धर्म माना जायगा। त्याग-का स्वरूप कल आप लोगोंने अच्छी तरह सुना था। आज उसके अनुसार कुछ काम करके दिखलाना है।

मूर्च्छाका त्याग करना त्याग कहलाता है। जो चीज आपकी नहीं है उसे आप क्या छोड़ेंगे ? वह तो छूटी ही है। रुपया, पैसा, धन, दौलत सब आपसे जुदे हैं। इनका त्याग तो है ही। आप इनमें मूर्च्छा छोड़ दो, लोभ छोड़ दो; क्योंकि मूर्च्छा और लोभ तो आपका है—आपकी आत्माका विभाव है। धनका त्याग लोभकषायके अभावमें होता है। लोभका अभाव होनेसे आत्मामें निर्मलता आती है। यदि कोई लोभका त्यागकर मान करने लग जाय—दान करके अहङ्कार करने लग जाय तो वह मान, कषायका दादा हो गया। 'चूल्हेसे निकले भाड़में गिरे' जैसी कहावत होगई। सो यदि एक कषायसे बचते हो तो उससे प्रबल दूसरी कषाय मत करो।

देखें, आप लोगोंमेंसे कोई त्याग करता है या नहीं। मैं तो आठ दिनसे परिचय कर रहा हूँ। आज तुम भी कर लो। इतना काम तुम्हीं कर लो।

एक आदमीसे एकने पूछा—आप रामायण जानते हो तो बताओ उत्तरकाण्डमें क्या है ? उसने कहा—अरे, उत्तरकाण्डमें क्या धरा ? कुछ ज्ञान-ध्यानकी बातें हैं। अच्छा, अरण्यकाण्डमें क्या है ? उसमें क्या धरा ? अरण्य वनको कहते हैं, उसीकी कुछ बातें हैं। लङ्काकाण्डमें क्या है ? अरे, लङ्काको कौन नहीं जानता ? वही तो लङ्का है जिसमें रावण रहा करता था। भैया ! अयोध्याकाण्डमें क्या है ? बड़ी बात पूछी, उसमें क्या है ? वही तो अयोध्या है जिसमें रामचन्द्रजी पैदा हुए थे। अच्छा, बालकाण्ड-में क्या है ? खूब रही, इतने काण्ड हमने बतलाये, एक काण्ड तुम्हीं बतला दो। सभी काण्ड हम ही से पूछना चाहते हो। इसी प्रकार हमारा भी कहना है कि इतने धर्म तो हमने बतला दिये। अब एक त्याग धर्म तुम्हीं बतला दो। और हमसे जो कुछ कहो सो हम त्याग करनेको तैयार हैं—कहो तो चले जायें। (हँसी)। आपके त्यागसे हमारा लाभ नहीं—आपका लाभ है। आपकी समाजका लाभ है, आपके राष्ट्रका लाभ है। हमारा क्या है ? हमें तो दिनमें दो रोटियाँ चाहिएँ, सो आप न दोगे, दूसरे गाँववाले दे देंगे। आप लुटिया न उठाओगे तो (क्षुल्लकजीके हाथसे पीछी हाथमें लेकर) यह पीछी और कमण्डलु उठाकर स्वयं बिना बुलाये आपके यहाँ पहुँच जाऊँगा। पर अपना सोच लो। आज परिग्रहके कारण सबकी आत्मा (हाथका इशारा कर) यों काँप रही है। रात-दिन चिन्तित हैं—कोई न ले जाय। कँपनेमें क्या धरा ? रक्षाके लिये तैयार रहो। शक्ति सञ्चित करो। दूसरेका मुँह क्या ताकते हो ? या अटूट श्रद्धान रक्खो जिस कालमें जो बात जैसी होने वाली है वह उस कालमें वैसी होकर रहेगी।

'यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः ॥'

यह नीति बच्चोंको हितोपदेशमें पढ़ाई जाती है। जो काम होने वाला नहीं वह नहीं होगा और जो होने वाला है वह अन्यथा प्रकार नहीं होगा। महादेवजी तो दुनियाके स्वामी थे, पर उन्हें एक वस्त्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी नहीं मिला। और हरि (कृष्ण) संसारके रक्षक थे उन्हें सोनेके लिये मखमल आदि कुछ नहीं मिला। क्या मिला ? सर्प।

जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे ।
अनहोनी होसी नहिं कबहूँ काहे होत अधीरा रे ॥

होगा तो वही जो वीतरागने देखा है, जो बात अनहोनी है वह कभी नहीं होगी।

दिल्लीकी बात है। वहाँ हरजसराय(?) रहते थे। करोड़पति आदमी थे। बड़े धर्मात्मा थे। जिन-पूजनका उनके नियम था। जब संवत् १४ (?) की गदर पड़ी तब सब लोग इधर-उधर भाग गये। इनके लड़कोंने कहा—पिता जी! समय खराब है इस लिये स्थान छोड़ देना चाहिये। हरजसरायने कहा—तुम लोग जाओ, मैं वृद्ध आदमी हूँ। मुझे धनकी आवश्यकता नहीं। हमारे जिनेन्द्रकी पूजा कौन करेगा? यदि आदमी रखा जायगा तो वह भी इस विपत्तिके समय यहाँ स्थिर रह सकेगा, यह सम्भव नहीं। पिताके आग्रहसे लड़के चले गये। एक घण्टे बाद चोर आये। हरजसरायने स्वयं अपने हाथों सब तिजोरियाँ खोल दीं। चोरोंने सब सामान इकट्ठा किया। लेजानेको तैयार हुए, इतनेमें एकाएक उनके मनमें विचार आया कि कितना भला आदमी है? इसने एक शब्द भी नहीं कहा। लूटनेके लिये सारी दिल्ली पड़ी है, कौन यही एक है, इस धर्मात्मा-को सताना अच्छा नहीं। हरजसरायने बहुत कहा, चोर एक कणिका भी नहीं ले गये और दूसरे चोर आकर इसे तङ्ग न करें, इस खयालसे उसके दरवाजे पर ५ डाकुओंका पहरा बैठा गये। मेरा तो अब भी विश्वास है कि जो इतना दृढ श्रद्धानी होगा उसका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता। 'बाल न बाँका कर सके जो जग ही रिपु होय।' जिसका धर्मपर अटल विश्वास है सारा संसार उसके विरुद्ध होजाये तो भी उसका बाल बाँका नहीं हो सकता। तुम ऐसा विश्वास करो, तुम्हारा कोई कुछ भी बिगाड़ ले तो मैं जिम्मेदार हूँ; लिखा लो मुझसे।

मैं श्रद्धाकी बात कहता हूँ। वरुआसागरमें मूलचन्द्र था। बड़ा श्रद्धानी था। उसके पाँच विवाह हुए थे। पाँचवीं स्त्रीके पेट गर्भ था। कुछ लोग बैठे थे, मूलचन्द्र था, मैं भी था। किसीने कहा कि मूलचन्द्र के बच्चा होगा, किसीने कहा बच्ची होगी, इस प्रकार सभीने कुछ न कुछ कहा। मूलचन्द्र मुझसे बोला—आप भी कुछ कह दो। मैंने कहा भैया! मैं निमित्त-ज्ञानी तो हूँ नहीं जो कह दूँ कि यह होगा। वह बोला—जैसी एक-एक गप्प इन लोगोंने छोड़ी वैसी आप भी छोड़ दीजिए। मुझे कह आया कि बच्चा होगा और उसका श्रेयांसकुमार नाम होगा। समय आनेपर उसके बच्चा हुआ। उसने तार देकर बाईजी-को[1] तथा मुझे बुलाया। हम लोग पहुँच गये। बड़ा खुश हुआ। उसने खुशीमें बहुत सारा गल्ला ग़रीबोंको बाँटा और बहुतोंका कर्ज छोड़ दिया। नाम-संस्करण के दिन एक थालीमें सौ-दो-सौ नाम लिकर रक्खे और एक पाँच वर्षकी लड़कीसे उनमेंसे एक कागज निकलवाया। सो उसमें श्रेयांसकुमार नाम निकल आया। मैंने तो गप्प ही छोड़ी थी। पर वह सच निकल आई। एक बार श्रेयांसकुमार बीमार पड़ा तो गाँवके कुछ लोगोंने मूलचन्द्रसे कहा कि एक सोनेका राक्षस बनाकर कुएको चढ़ा दो। मूलचन्द्रने बड़ी दृढताके साथ उत्तर दिया कि यह लड़का मर जाय, मूलचन्द्र मर जाय, उसकी स्त्री मर जाय, सब मर जायँ; पर मैं राक्षस बनाकर नहीं चढ़ा सकता। श्रेयांसकुमार उसके पाँच विवाह बाद उत्पन्न एक ही लड़का था फिर भी वह अपने श्रद्धानपर डटा रहा। सो श्रद्धान तो यही कहता है। जो मौका आनेपर विचलित होजाते हैं उनके श्रद्धानमें क्या धरा?

यह पञ्चाध्यायी ग्रन्थ है। इसमें लिखा है कि सम्यग्दृष्टि निःशङ्क होता है—निर्भय होता है। मैं आपसे पूछता हूँ कि उसे भय है ही किस बातका? वह अपने आपको जब अजर, अमर, अविनाशी पर-पदार्थसे भिन्न श्रद्धन करता है, उसे जब इस बातका विश्वास है कि पर पदार्थ मेरा नहीं है, मैं अनाद्यनन्त

१ वर्णीजीकी माता श्री चिरोंजाबाईजी।—सं०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नित्योद्योत विशद-ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ। मैं एक हूँ। पर-पदार्थसे मेरा क्या सम्बन्ध ? अणुमात्र भी पर-द्रव्य मेरा नहीं है। हमारे ज्ञानमें ज्ञेय आता है पर वह भी मुझसे भिन्न है। मैं रसको जानता हूँ पर रस मेरा नहीं हो जाता। मैं नव पदार्थोंको जानता हूँ पर नव पदार्थ मेरे नहीं हो जाते। भगवान् कुन्दकुन्द-स्वामीने लिखा है—

"अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण-णाणमइओ सदाऽरूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि॥"

मैं एक हूं, शुद्ध हूं, दर्शन-ज्ञानमय हूं, अरूपी हूं। अधिककी बात जाने दो परमाणुमात्र भी परद्रव्य मेरा नहीं है।

पर बात यह है कि हम लोगोंने तिलीका तेल खाया है, घी नहीं। इसलिये उसे ही सब कुछ समझ रहे हैं। कहा है—'तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि। अविदितपरमानन्दो जनो वदति विषय एव रमणीयः॥' जिसने वास्तविक सुखका अनुभव नहीं किया वह विषयसुखको ही रमणीय कहता है। इस जीवकी हालत उस मनुष्यके समान होरही है जो सुवर्ण रखे तो अपनी मुट्ठीमें है पर खोजता फिरता है अन्यत्र। अन्यत्र कहाँ धरा ? आत्माकी चीज आत्मामें ही मिल सकती है।

एक भद्रप्राणी था। उसे धर्मकी इच्छा हुई। मुनिराजके पास पहुँचा, मुझे धर्म चाहिए। मुनिराजने कहा—भैया ! मुझे और बहुतसा काम करना है। अतः अवसर नहीं। इस पासकी नदीमें चले जाओ उसमें एक नाकू रहता है। मैंने उसे अभी अभी धर्म दिया है वह तुम्हें दे देगा। भद्रप्राणी नाकूके पास जाकर कहता है कि मुनिराजने धर्मके अर्थ मुझे आपके पास भेजा है, धर्म दीजिये। नाकू बोला, अभी लो, एक मिनिटमें लो, पर पहले एक काम मेरा कर दो। मैं बड़ा प्यासा हूँ, यह सामने किनारेपर एक कुआ है उससे लोटा भर पानी लाकर मुझे पिला दो, फिर मैं आपको धर्म देता हूँ। भद्रप्राणी कहता है—तू बड़ा मूर्ख मालूम होता है, चौबीस घण्टे तो पानी-में बैठा है और कहता है कि मैं प्यासा हूं। नाकूने कहा कि भद्र ! जरा अपनी ओर भी देखो। तुम भी चौबीसों घण्टे धर्ममें बैठे हो, इधर-उधर धर्मकी खोजमें क्यों फिर रहे हो ? धर्म तो तुम्हारा आत्मा-का स्वभाव है, वह अन्यत्र कहाँ मिलेगा।

सम्यग्दृष्टि सोचता है जिस कालमें जो बात होने वाली होती है उसे कौन टाल सकता है ? भगवान् आदिनाथको ६ माह आहार नहीं मिला। पाण्डवोंको अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान होने वाला था, ज्ञानकल्याण का उत्सव करनेके लिये देवलोग आने वाले थे। पर इधर उन्हें तप्त लोहेके ज़िरह बख्तर पहिनाये जाते हैं। देव कुछ समय पहले और आजाते ! आ कैसे जाते ? होना तो वही था जो हुआ था। यही सोच कर सम्यग्दृष्टि न इस लोकसे डरता है, न परलोकसे। न उसे इस बातका भय होता है कि मेरी रक्षा करने वाले गढ़, कोट आदि कुछ भी नहीं है। मैं कैसे रहूंगा ? न उसे आकस्मिक भय होता है और सबसे बड़ा मरणका भय होता है सो सम्यग्दृष्टिको वह भी नहीं होता वह अपनेको सदा 'अनाद्यनन्त-नित्योद्योतविशदज्ञानज्योति' स्वरूप मानता है। सम्यग्दृष्टि जीव संसारसे उदासीन होकर रहता है। तुलसीदासने एक दोहेमें कहा है—

'जगतै रहु छत्तीस हो रामचरण छह तीन।'

संसारसे ३६के समान विमुख रहो और रामचन्द्र जीके चरणोंमें ६३के समान सम्मुख।

वास्तवमें वस्तुतत्त्व यही है कि सम्यग्दृष्टिकी आत्मा बड़ी पवित्र होजाती है, उसका श्रद्धान गुण बड़ा प्रबल हो जाता है। यदि श्रद्धान न होता तो आपके गाँवमें जो २८ उपवास वाला बैठा है वह कहाँसे आता ? इस लड़कीके (काशीबाईकी ओर संकेत करके) आज आठवाँ उपवास है। नत्था कहीं बैठा होगा उसके बारहवाँ उपवास है और एक-एक, दो-दो उपवासवालोंकी तो गिनती ही क्या है ? 'अलमा कौन पियादोंमें' ? वे तो सौ, दो-सौ होंगे। यदि धर्मका श्रद्धान न होता तो इतना क्लेश फोकटमें कौन सहता ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्यानकी बात थी सो तो हो चुकी। अब आपके नगरके एक बड़े आदमीका कुछ आग्रह है सो प्रकट करता हूँ। भैया! मैं तो ग्रामोफौन हूँ, चाहे जो बजा लेता है—जो मुझे जैसी कहता है वैसी ही कह देता हूँ। इन बड़े आदमियोंकी इतनी बात माननी पड़ती है; क्योंकि उनका पुण्य ही ऐसा है। अभी यहाँ बैठनेको जगह नहीं है पर सेठ हुकुमचन्द्र आजाय तो सब कहने लगोगे, इधर आओ, इधर आओ। अरे! हमारी तुम्हारी बात जाने दो, तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि तो समयपर ही खिरती है पर यदि चक्रवर्ती पहुँच जाय तो असमयमें भी खिरने लगती है। अपने राग-द्वेष है पर उनके तो नहीं है। चक्रवर्तीकी पुण्यकी प्रबलतासे भगवानकी दिव्यध्वनि अपने आप खिरने लगती है। हाँ, तो यह सिंघईजी कह रहे हैं कि महिलाश्रमके लिये अभी कुछ होजाय तो अच्छा है फिर मुश्किल होगा। भैया! मैं विद्यालयको तो मांगता नहीं और उस वक्त भी नहीं मांगे थे, पर बिना मांगे ही सेठ २५०००) दे गया तो मैं क्या करूँ मै तो बाहरकी संस्थाओंको देता था, पर मुझे कह आया कि यदि सागर इतने ही और देवे तो सब वही लेले। आप लोगोंने बहुत मिला दिये। कुछ बाकी रह गये सो आप लोग अपना वचन न निभाओगे तो किसीसे भीख मांग दूंगा। यह बात महिलाश्रमकी है जैसे बच्चे तैसे बच्चियाँ। आपकी ही तो हैं। इनकी रक्षामें यदि आपका द्रव्य लगता है तो मैं समझता हूँ अच्छा ही होरहा है। पाप करके लक्ष्मीका संचय जिनके लिये करना चाहते हो वे उसके फल भोगनेमें शामिल न होंगे। बाल्मीकिका किस्सा है। बाल्मीकि, जो एक बड़ा ऋषि माना जाता है, चोरी-डकैती करके अपने परिवारका पालन करता था। उसके रास्ते जो कोई निकलता उसे वह लूट लेता था। एकबार एक साधु निकले। उनके हाथमें कमण्डलु था। बाल्मीकिने कहा—रख दो यहाँ कमण्डलु। साधुने कहा—बच्चे! यह तो डकैती है, इसमें पाप होगा। बाल्मीकिने कहा—मैं पाप-पुण्य कुछ नही जानता, कमण्डलु रख दो। साधुने कहा—अच्छा, मैं यहाँ खड़ा रहूँगा, तुम अपने घरके लोगोंसे पूछ आओ कि मैं एक डकैती कर रहा हूँ उसका जो फल होगा, उसमें शामिल हो, कि नहीं? लोगोंने टकासा जवाब दे दिया—तुम चाहे डकैती करके लाओ, चाहे साहुकारीसे। हम लोग तो खाने भरमें शामिल हैं। बाल्मीकिको बात जम गई और वापिस आकर साधुसे बोला—बाबा! मैंने डकैती छोड़ दी। आप मुझे अपना चेला बना लीजिये।

बात वास्तविक यही है। आप लोग पाप-पुण्यके द्वारा जिनके लिये सम्पत्ति इकट्ठी कर रहे हो वे कोई साथ देने वाले नहीं हैं। अतः समय रहते सचेत हो जाओ। देखें, आप लोगोंमेंसे कोई हमारा साथ देता है या नहीं।

समय रहते सावधान!

जौलौं देह तेरी काहू रोगसों न घेरी जौलौं, जरा नाहिं नेरी जासों पराधीन परि है।
जौलौं जमनामा बैरी देय न दमामा जौलौं, माने कान रामा बुद्धि जाइ न विगरि है॥
तौलौं मित्र! मेरे निज कारज सँवार ले रे, पौरुष थकैंगे फेर पीछे कहा करि है।
अहो आग आये जब झोंपरी जरन लागे, कुआके खुदाये तब कौन काज सरि है॥

—कवि भूधरदास

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संगीतपुरके सालुवेन्द्र नरेश और जैनधर्म

ले०—कामताप्रसाद जैन, सम्पादक 'वीर' अलीगञ्ज (एटा)

दक्षिण भारतके राजवंशोंमें होय्सल राजवंश सर्व अन्तिम हिन्दूशासक कहा जाय तो बेजा नहीं। मुहम्मदग़ज़नीने उसी वंशके राजाको पराजित करके मुसलमानी शासनकी नीव दक्षिणमें डाली थी। हिन्दू अपनी स्वाधीनताको खोती हुई देखकर तिल-मिला उठे। सबका माथा ठनका और सबने यवनोंका विरोध करना निश्चय किया। पहले वैष्णव, शैव, लिङ्गायत और जैनोंकी आपसमें स्पर्द्धा चलती थी—यवनोंके आक्रमणने उस स्पर्द्धाका अन्त कर दिया। वैष्णव, शैव, जैन और लिङ्गायत कन्धासे कन्धा मिलाकर जननी जन्मभूमिकी रक्षाके लिये जुट पड़े। सबने मिलकर विजयनगर साम्राज्यकी स्थापना की! होय्सल नरेशके प्रान्तीय शासक महामण्डलेश्वर हरिहरराय एक पराक्रमी शासक थे। जनताने उनको ही अपना नेता चुनकर विजयनगरके राजसिंहासन-पर बैठाया। उनके संरक्षणमें हिन्दू-शासनकी रक्षा हुई! किन्तु यह हिन्दू साम्राज्य साम्प्रदायिकताके विषसे मुक्त था। पाकिस्तानकी तरह उसमें अल्प-संख्यकोंका शोषण और निष्कासन नहीं किया गया था। मुसलमान भी विजयनगरके हिन्दू साम्राज्यमें आज़ादीसे रहते ही नहीं, बल्कि राज्यशासनमें उच्च-पदोंपर आसीन थे। विजयनगरके कई सेनापति भी मुसलमान थे। इन मुसलमान कर्मचारियोंने हमेशा मतसहिष्णुताका परिचय दिया—यहाँ तक कि उन्होंने हिन्दू देवता और गुरुको दान भी दिये। किन्तु इतना होते हुए भी उन्होंने हिन्दुओंकी समुदार-वृत्ति-का अवसर मिलते ही दुरुपयोग किया! कदाचित् विजयनगर हिन्दू साम्राज्यके कतिपय सामन्तगण स्वार्थमें बहकर राजद्रोह न करते और विजयनगरकी मुसलमान सेना और सेनापति धोखा देकर मुसलमान बादशाहोंसे न जा मिलते तो दक्षिण भारतमें हिन्दू राज्यका पतन शायद ही होता! प्रस्तुत लेखमें हम पाठकोंके समक्ष विजयनगर साम्राज्यके एक प्रसिद्ध सामन्त राजवंशका परिचय उपस्थित करते हैं, जो इतना प्रभावशाली था कि अन्ततो गत्वा उसी वंशका एक पराक्रमी राजा विजयनगर साम्राज्यका अधिकारी हुआ था।

तुलुवदेशमें संगीतपुर एक बड़ा नगर था। वह हाडुहल्लि नामसे प्रसिद्ध था। आजकल यह स्थान उत्तर कनाड़ा जिलेमें है। उस समय यहाँ सालुवेन्द्र नरेश राज्याधिकारी थे। सारे तौलव देशपर उनका शासन चलता था। उनका वंश काश्यपगोत्री चन्द्र-कुलका क्षत्रयवंश था। सङ्गीतपुर उस समय निस्संदेह एक महान् नगर था। जैनधर्मका वहाँ प्राबल्य था। सन् १४८८ ई०के एक शिलालेखमें लिखा है कि "तौलबदेशमें सङ्गीतपुर सौभाग्यका ही निकेत था। उसमें उत्तुङ्ग चैत्यालय बने हुए थे। वहाँपर सुखी, समुदार और भोग-विलासमें मग्न नागरिक रहते थे। हाथी-घोड़ोंसे वह भरा था। वहाँ बड़े-बड़े योद्धा, उच्चकोटिके कविगण, वादी और प्रवक्ता रहते थे। मानो वह नगर सरस्वतीका आवास होरहा था। उच्च साहित्यका निर्माण जो वहाँ होता था। अपनी ललित कलाओंके लिये भी वह प्रसिद्ध था।"

सङ्गीतपुरमें उस समय महामण्डलेश्वर सालुवेन्द्र शासन कर रहे थे। वह सालुवेन्द्र नरेश जिनेन्द्र चन्द्रप्रभुके चरण-चञ्चरीक बने हुए थे। उनका हृदय रत्नत्रयधर्मके लिए सुदृढ़ मंजूषा था। उन्होंने सङ्गीत-पुरमें अतीव उत्तुङ्ग और नयनाभिराम जिन चैत्यालय बनवाये थे, जिनके विशाल मण्डप और सुन्दर मानस्तम्भ बने हुए थे। धातु और पाषाणकी भव्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूर्तियाँ भी उन्होंने निर्माण कराई थीं। नगरमें मनोरम पुष्पवाटिकाएँ (Parks) बनवाकर उन्होंने नगरकी शोभाको बढ़या था और नागरिकोंको सुखसुविधा प्रदान की थी। नागरिक उनमें जाकर आनन्दकेलि करते थे। इतनेपर भी सालुवेन्द्रको इस बातका ध्यान था कि नगरमें धर्ममर्यादा अक्षुण्ण रहे। इसीलिये वह मन्दिरोंकी धर्मव्यवस्था ठीक रखनेके लिए सतर्क रहते थे। मन्दिरोंमें नियमित धर्म क्रियाएँ होती रहें, इसके लिए उन्होंने दान-व्यवस्था की थी। देवपूजा, चतुर्विध दान और विद्वानोंको निरन्तर वृत्तियाँ दी जाती थीं। सारांश यह कि सालुवेन्द्र नरेशने राजत्वके आदर्शको निभाया और धर्ममर्यादाको आगे बढ़ाया था!

इन सालुवेन्द्र नरेशके राजमन्त्री भी राजवंशके रत्न थे। उनका नाम पद्म अथवा पद्मण था। राज-मर्यादाको स्थिर रखनेमें उनका उल्लेखनीय हाथ था। इसीसे प्रसन्न होकर सालुवेन्द्रने उनको ओगेय-केरे नामक ग्राम भेंट किया! किन्तु पद्म इतने समुदार और धर्मवत्सल थे कि उन्होंने वह ग्राम जिनधर्मके उत्कर्षके लिये दान कर दिया। 'जैनं-जयतु-शासनं' सूत्र मूर्तमान इस प्रकार ही था। उन्होंने अपने नामपर 'पद्माकरपुर' नामक ग्राम बसाया था। सन् १४९८ ई०में उन्होंने उस ग्राममें एक भव्य जिनालय निर्माण कराया और उसमें भगवान पार्श्वनाथकी दिव्यमूर्ति विराजमान की थी। महामण्डलेश्वर इन्दगरस ओडेयरकी इच्छानुसार उन्होंने उसके लिए भूमिदान दिया था। उस मन्दिर-में निरन्तर अभय-ज्ञान-भैषज्य-आहार दान दिया जाता था। जैन मन्दिर लोकोपकारक शिक्षाके केन्द्र होरहे थे—वे भुवनाश्रय थे। जीवमात्र उनमें पहुँच कर अपना आत्मकल्याण करते थे।

महामण्डलेश्वर इन्दगरस सालुवेन्द्रनरेशके छोटे थे। वे महामण्डलेश्वर साङ्गिराजके पुत्र थे। इन्दगरस 'इम्मडि सालुवेन्द्र' नामसे प्रसिद्ध थे। उनका नाम सैनिक प्रवृत्तियोंके कारण खूब चमक रहा था। वह एक बहादुर योद्धा थे। सन् १४९१के एक शिलालेख में उनके शौर्यका विवरण है। उसमें लिखा है कि उन्होंने शौर्य देवताको जीत लिया था। कर्मसूर होनेके साथ वह धर्मसूर भी थे। धर्मकार्य वह निरन्तर करते थे। बिडिरू (वेणुपुर)में वर्द्धमान स्वामीका मन्दिर था। इन्दगरसने उस मन्दिरके प्राचीन भूमिदानका पुनरुद्धार जैनधर्मको उन्नत बनानेके लिये किया था।

सङ्गीतपुरके अवशेष नरेशोंमें सालुव मल्लिराय, सालुव देवराय और सालुव कृष्णदेव जैनधर्मके प्रसङ्गमें उल्लेखनीय है। कृष्णदेवकी माता पद्माम्बा विजयनगर सम्राट् देवराय प्रथमकी बहन थीं। सन् १५३० ई०के दानपत्रसे स्पष्ट है कि इन तीनों राजाओं ने प्रसिद्ध जैनगुरु वादी विद्यानन्दको आश्रय दिया था। सालुव मल्लिराय और सालुव देवरायने राज-दरबारोंमें उन्होंने परवादियोंसे सफल वाद किया था। कृष्णदेवने श्रीविद्यानन्दके पाद-पद्मोंकी पूजा की थी।

(मेडियावल जैनीज्म, पृष्ठ ३१४—३१८ देखें)

सन् १५२९ ई०के एक लेखसे स्पष्ट है कि सम्राट कृष्णरायके शासनकालमें सङ्गीतपुरका शासनसूत्र गुरुरायके हाथमें था, जो जेरसप्पेके शासकोंसे सम्बन्धित थे। गुरुराय भी अपने पूर्वजोंके समान जैनधर्मके अनन्य भक्त थे। वह 'रत्नत्रयधर्माराधक'-'जैनधर्मध्वजारोहक'—'स्वर्णिम जिनमन्दिरों और मूर्तियोंके निर्माता' कहे गये हैं। इन विरुदोंसे उनकी जिनधर्मके प्रति भक्ति और श्रद्धा प्रगट होती है। इनकी सन्ततिमें हुए भैरव नरेशने आचार्य वीरसेन-की आज्ञानुसार वेणुपुरके 'त्रिभुवनचूड़ामणि-वस्ती' नामक मन्दिरकी छतपर ताँबेके पत्र लगवाये थे। उनके कुलदेव भगवान पार्श्वनाथ और राजगुरु पण्डिताचार्य वीरसेन थे। उनकी रानी नागलदेवी भी भक्तवत्सला श्राविका थी उन्होंने उपर्युक्त मन्दिरके सम्मुख एक सुन्दर मानस्तम्भ बनवाया था। उनकी पुत्रियाँ (१) लक्ष्मीदेवी और (२) पण्डितादेवी भी अपनी माँकी तरह धर्मात्मा थीं। वे निरन्तर जैन साधुओंको दान दिया करती थीं। जब भैरव नरेश

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म बनाम समाजवाद

(लेखक—पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न)

आजके प्रगतिशील युगमें वे ही शक्तियाँ, सामाजिकप्रथाएँ एवं आचारके नियम जीवित रह सकते है जो लोग समाजको चरम विकासकी ओर ले जा सकें। जैनधर्मका लक्ष्य विन्दु भी एकमात्र मानव समाजको आध्यात्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टिसे विकासकी ओर लेजाना है। जैनाचार्योंने जीवनके प्रारम्भिक विन्दुको (Starting point) उसी स्थानपर रखकर जीवन-गति रेखाको आरम्भ किया है, जहाँसे मानव समाजके निर्माणका कार्य आरम्भ होता है।

जिस प्रकार स्वतन्त्रता व्यक्तिवाद (Individualism)की कुञ्जी मानी जाती है, उसी प्रकार समानता समाजवादकी। जैनधर्ममें समस्त जीवधारियोंको आत्मिक दृष्टिसे समानत्वका अधिकार प्राप्त है। इसमें स्वातन्त्र्यको बड़ी महत्ता दी गई है। संसारके सभी प्राणियोंकी आत्मामें समानशक्ति है तथा प्रत्येक संसारी प्राणीकी आत्मा अपनी भूलसे अवनति और जागरूकतासे उन्नति करती है, इसका भाग्य किसी ईश्वर विशेषपर निर्भर नहीं है। प्रत्येक जीवधारीके शरीरमें पृथक् पृथक् आत्मा होनेपर भी सब आत्माओंका स्वभाव एक समान है; किन्तु इन संसारी आत्माओंमें संस्कार—कर्मजन्य मैल रहता है जिससे इनके भावोंमें, शरीरकी रचनामें तथा इनके अन्य क्रिया-कलापोंमें अन्तर है। यदि यह संस्कार—विषय वासना और कषायोंसे उत्पन्न कर्मजन्य मलिनता दूर हो जाय तो सबका स्वभाव एक समान प्रकट हो जायगा[1]। उदाहरणके तौरपपर यों कहा जा सकता है कि कई एक जलके भरे हुए घड़ोंमें नाना प्रकारका रङ्ग घोल दिया जाय तो उन घड़ोंका पानी एकसा नहीं दिखलाई पड़ेगा; रङ्गोंके सम्बन्धसे नाना प्रकारका मालूम होगा। किन्तु बुद्धि पूर्वक विचार करनेसे सभी घड़ोंका पानी एकसा है, केवल परसंयोगी विकारके कारण उनके जलमें कुछ भिन्नता मालूम पड़ती है। अतएव सभी प्राणियोंकी आत्माएँ समान हैं—All souls are similar as regards their true real nature.

आध्यात्मिक दृष्टिसे समस्त समाजको एक स्तरपर लानेके लिये ही सबसे आवश्यक यह है कि समस्त प्राणियोंको परमात्मस्वरूप माना जाय। जैनधर्ममें इसीलिये परमात्माकी शक्ति जीवात्मासे अधिक नहीं मानी है और न जीवात्मासे भिन्न कोई परमात्मा ही माना है। इस प्रकार परमात्मा एक नहीं, अनेक हैं। जो कषाय और वासनाओंसे उत्पन्न अशुद्धतासे छूट कर मुक्त हो जाता है, वही एक समान गुणधारी परमात्मा हो जाता[2] है। अल्पज्ञानी एवं विषय-

१—नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः॥
—समाधिशतक श्लोक ७५

२—स्वबुद्धया यावद् गृहीयात् कायवाचेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः॥
—समाधिशतक श्लोक ६२

रोगग्रस्त हुए तो वह जिनेन्द्र भगवानकी शरणमें पहुँचे। रोगमुक्त होनेके लिये उन्होंने जिन पूजा की और दान दिया। ऐसे दृढ़ श्रद्धानी यह राजपुरुष थे। उनकी धर्म श्रद्धा उन्हें सुखी और सम्पन्न बनानेमें कारणभूत थी। आजका जगत उनके आदर्शको देखे और धर्मके महत्वको पहिचाने तो दुख-शोक भूल जावे!

इस प्रकार विजयनगर साम्राज्यके एक जैन-धर्मानुयायी सामन्त राजवंशका परिचय है। इनके साथ अन्य सामन्तगण भी जिनेन्द्र भक्त थे। उनका परिचय कभी आगे पाठकोंकी नजर करेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वासनाओंमें आसक्त प्राणीको भी यह परमात्मा होनेकी योग्यता वर्तमान है। परमात्मा हो जानेपर इच्छाओंका अभाव होजता है और शरीर, मन, वचन नहीं रहते जिससे उन्हें किसी भी कामके करने की चिन्ता नहीं होती है, न किसी कामकी वे आज्ञा देते हैं, अतएव जगतकर्तृत्वका प्रसङ्ग इन राग-द्वेषसे रहित स्वतन्त्र परमात्माओंको प्राप्त नहीं होता[1] है।

यह विश्व सदासे है और सदा रहेगा; (world is eternal) न कभी बना है और न कभी नाश होगा। इसमें प्रधानतः जड़ और चेतन दो प्रकारके पदार्थ हैं। इनका कभी नाश नहीं होता है, केवल इनकी अवस्थाएँ बदला करती हैं। इस परिवर्तनमें भी कोई बाह्य ईश्वरादि शक्ति कारण नहीं हैं; किन्तु षड्द्रव्योंका स्वाभाविक परिणमन ही कारण है। जैन मान्यतामें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छः द्रव्य माने गये हैं, इन द्रव्योंका समवाय—एकीकरण ही लोक[2] है। इन द्रव्योंमें गुण और पर्याय ये दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं। जो एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यसे पृथक् करता है उसे गुण एवं द्रव्योंकी जो अवस्थाएँ बदलती हैं उन्हें पर्याय कहते हैं। गुण और पर्यायोंके कारण ही द्रव्योंकी व्यवस्था होती है।

जीव—चैतन्य ज्ञानादि गुणोंका धारी जीव द्रव्य है। यह अपनी उन्नति और अवनति करनेमें स्वतन्त्र है, किसी के द्वारा शासित नहीं है, इसका विकास अपने हाथोंमें है, इसे स्वतन्त्र होनेके लिये किसीके आश्रित रहनेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु इतनी बात अवश्य है कि जीव अपनी स्वाभाविक विशेषताओंके कारण अपने उत्थान और पतनमें पुद्गल (Matter) को निमित्त कारण—सहायक बना लेता है। इसलिये जीवके परिणामोंकी प्रेरणासे-मन, वचन और कायके परिस्पन्दनसे पुद्गलके परिमाणु अपनी शक्ति विशेषके कारण जीवसे आकर चिपट जाते हैं; जिससे जीवके स्वाभाविक गुण मलिन होजाते हैं। यह मलिनता सदासे चली आरही है, जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा इसे अलग कर परमात्मा बन जाता है।

पुद्गल—यह द्रव्य मूर्तिक है, इसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श चार गुण पाये जाते हैं। जितने पदार्थ हमें आँखोंसे दिखलाई पड़ते हैं वे सब पौद्गलिक हैं। इसमें मिलने और बिछुड़नेकी योग्यता है यह स्कन्ध—पिण्ड और परमाणुके रूपमें पाया जाता है। शब्द (sound), बन्ध (union), सूक्ष्म (fineness), स्थूल (grassness), संस्थान-भेद-तमच्छाया (shape, division, darkness and image), उद्योत-आतप (lustre heat) ये सब पुद्गल द्रव्यकी पर्यायाएँ (modification) हैं। इसके अनेक भेद-प्रभेद और भी बताये गये हैं, जिनसे जीवोंके प्रायः सभी व्यवहारिक कार्य चलते हैं।

धर्मद्रव्य[1]—जैन आम्नायमें इसे पुण्य-पापरूप नहीं माना गया है, किन्तु जीवों और पुद्गलोंके हलन-चलनमें बाहिरी सहायता (Assists the movement of moving) प्रदान करने वाले सूक्ष्म अमूर्त्त पदार्थको धर्मद्रव्य माना है। यह आते, जाते, गिरते, पड़ते, हिलते, चलते पदार्थोंको उनकी गतिमें मदद करता है, बलपूर्वक किसीको नहीं चलाता, किन्तु उदासीनरूपसे चलते हुए पदार्थोंकी गतिमें सहायक होता है। इसका अस्तित्व समस्त लोकमें पाया जाता है।

---

१ अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्च ।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥
—गो० सा० जी० गा० ६८

२ लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइ णिहणो सहावणिव्वत्तो।
जवाजीवेहिं फुडो सव्वागासावयवो णिच्चो ॥
—त्रिलोकसागर गा० ४

१ The Jain philosophers mean by Dharama kind of ether, which is the fulcrum of Motion, with the help of Dharam, Pudgala and Jiva move.
—द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ५२

अधर्मद्रव्य—यह अमूर्तिक पदार्थ स्थिर होने वाले जीव और पुद्गलोंको स्थिर होनेमें सहायता (Assists the staying of) करता है। उसका अस्तित्व भी समस्त लोकमें पाया जाता है।

आकाशद्रव्य—जो सब द्रव्योंको अवकाश—स्थान (space) देता है उसे आकाशद्रव्य कहते हैं। इसके दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। अनन्त आकाशके मध्यमें जहाँ तक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म पाये जायँ उसे लोकाकाश[1] (universe) और जहाँ केवल आकाशद्रव्य ही हो उसे अलोकाकाश (non-universe) कहते हैं।

कालद्रव्य—जिसके निमित्तसे वस्तुओंकी अवस्थाएँ बदलती हैं उसे कालद्रव्य कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि इन छः द्रव्यों (Substences) में काम करने वाले (Actors) संसारी—अशुद्ध जीव और पुद्गल हैं, ये चलना, ठहरना, स्थान पाना एवं बदलना—परिवर्तन ये चार कार्य करते रहते हैं। उनके कार्योंमें क्रमशः धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य निमित्त कारण (Auxiliary cause) अर्थात् सहायक होते हैं। इस प्रकार विश्वकी सारी व्यवस्था बिना किसी प्रधान शासक—ईश्वर कर्त्ताके सुचारुरूपसे बन जाती है। सभी द्रव्य अपने अपने विशेष गुणोंके कारण अपने-अपने कार्यको करते रहते हैं। इन सांसारिक कार्योंमें जीव और पुद्गल उपादान कारण और अन्य द्रव्य निमित्त कारण होते हैं।

आर्थिक दृष्टिकोण

आर्थिक दृष्टिसे समाजको समान स्तरपर लाना जैनधर्मका एक विशिष्ट सिद्धान्त है। जैन संस्कृतिके प्रधान अङ्ग अपरिग्रह और संयमवाद ये दोनों ही समाजमेंसे शोषित और शोषक वर्गकी समाप्ति कर आर्थिक दृष्टिसे समाजको उन्नत स्तरपर लाते हैं।

अहिंसा-प्रधान जैनधर्ममें समस्त प्राणियोंके साथ मैत्रीभाव रखकर समाजके विकासपर जोर दिया है। मानवकी कोई भी क्रिया केवल अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिये नहीं होनी चाहिये, बल्कि उसे समस्त समाजके स्वार्थको ध्यानमें रखकर अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिये। इसी कारण समस्त समाजको सुखी बनानेके लिये व्यक्तिसे समाजको अधिक महत्व दिया गया है तथा समाजकी इकाईके प्रत्येक घटकका दायित्व समानरूपमें बताया गया है।

अपरिग्रहवाद—अपने योगक्षेमके लायक भरण-पोषणकी वस्तुओंको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना, अन्याय और अत्याचार-द्वारा पूञ्जीका अर्जन न करना अपरिग्रह है। शास्त्रीय दृष्टिसे पूर्ण परिग्रहका त्याग तो साधु-अवस्थामें ही सम्भव है, किन्तु उपर्युक्त परिभाषा गृहस्थ जीवनकी दृष्टिसे दी गई है। जैन संस्कृतिमें परिग्रहपरिमाण[1] के साथ भोगोपभोगपरिमाणका भी कथन किया है। जिसका तात्पर्य यह है कि वस्त्र, आभरण, भोजन, ताम्बूल[2] आदि भोगोपभोगकी वस्तुओंके सम्बन्धमें भी समाजकी परिस्थितिको देखकर उचित नियम करना मानवमात्रके लिये आवश्यक है। उपर्युक्त दोनों व्रतोंके समन्वयका अभिप्राय यह है कि समस्त मानव समाजकी आर्थिक अवस्थाको उन्नत बनाना। चन्द लोगोंको इस बातका कोई अधिकार नहीं कि वे

१ धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो॥
—द्रव्यसंग्रह गा० २०

लोकतीति लोकः—लोकति पश्यत्युपलभते अर्थानिति लोकः। —तत्त्वार्थराजवार्त्तिक ५। १२

१ वास्तु क्षेत्रं धान्यं दासी दासश्चतुष्पद भाण्डम्।
परिमेयं कर्त्तव्यं सर्वं सन्तोषकुशलेन॥
—अमितगतिश्रावकाचार पृष्ठ १६२

ममेदमिति संकल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु।
ग्रन्थस्तत्कर्शनात्तेषां कर्शनं तत्प्रमाव्रतम्॥
—सा० ध० अ० ४, श्लोक ५६

२ तांबूलगन्धलेपनमज्जनभोजनपुरोगमो भोगः।
उपभोगो भूषास्त्रीशयनासनवस्त्रवाहाद्याः॥
भोगोपभोगसंख्या विधीयते शक्तितो भक्त्या।
अमितगतिश्रावकाचार पृ० १६८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शोषण कर आर्थिक दृष्टिसे समाजमें विषमता उत्पन्न करें। यद्यपि इतना सुनिश्चित है कि समस्त मनुष्योंमें उन्नति करनेकी शक्ति एकसी न होनेके कारण समाज में आर्थिक दृष्टिसे समानता स्थापित होना कठिन है, तो भी जैनधर्म समस्त मानव-समाजको लौकिक उन्नतिके समान अवसर एवं अपनी-अपनी सामर्थ्यके अनुसार उन्नति करनेके लिये स्वतन्त्रता देता है। क्योंकि परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोगपरिमाण-का एक मात्र लक्ष्य समाजकी आर्थिक विषमताको दूर कर सुखी बनाना है। वस्तुतः अपरिग्रहवाद पूंजीवादका विरोधी सिद्धान्त है और यह समाजको समाजवादकी प्रणालीपर संगठित होनेके लिये प्रेरणा देता है। इसी लिये जैन ग्रन्थोंमें परिग्रहको महा-पाप बतलाया है, क्योंकि शोषणकर्त्ता हिंसा, झूठ, चोरी आदि सभी पापोंको करने वाला[१] है।

परिग्रहके दो भेद हैं—बाह्य परिग्रह और अन्तरङ्ग परिग्रह। बाह्य परिग्रहमें धन, भूमि, अन्न, वस्त्र आदि वस्तुएँ परिगणित हैं। इनके सञ्चयसे समाजको आर्थिक विषमताजन्य कष्ट भोगना पड़ता है, अतः आवश्यकता भर ही इन वस्तुओंको ग्रहण करना चाहिये, जिससे समाजके किसी भी सदस्यको कष्ट न हो और समस्त मानवसमाज सुखपूर्वक अपने जीवनको बिता सके।

अन्तरङ्गपरिग्रहमें वे भावनाएँ शामिल हैं जिनसे धन-धान्यका संग्रह किया जाता है, दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि सञ्चयशील बुद्धिका नाम ही अन्त-रङ्गपरिग्रह है। यदि बाह्य परिग्रह छोड़ भी दिया जाय और ममत्व बुद्धि बनी रहे तो समाजकी छीना-झपटी दूर नहीं हो सकती। इसलिये जैन मान्यताने अन्तरङ्ग, लोभ, माया, क्रोध आदि कषायोंके छोड़ने को विशेष महत्व दिया है। सारांशरूपमें अपरिग्रहकी स्पष्ट परिभाषा यों कही जा सकती है कि यह वह सिद्धान्त है जो पूंजी और जीवनोपयोगी अन्य आवश्यक वस्तुओंके अनुचित संग्रहको रोककर शोषणको बन्द करता है, जिससे मानवीय दशाओं-की भीषणता लुप्त होजाती है।

पूंजीकी प्राप्तिको ईश्वरकी कृपा या भाग्यका फल एवं दरिद्रता—गरीबीको ईश्वरकी अकृपा या भाग्यका कुपरिणाम जैनधर्ममें नहीं माना गया है। बल्कि जैन[१] कर्मसिद्धान्तमें स्पष्टरूपसे कहा गया है कि साताकर्मके उदयसे परिणामोंमें शान्ति और असाता कर्मके उदयसे परिणामोंमें अशान्ति होती है। लक्ष्मीकी प्राप्ति किसी कर्मके उदयसे नहीं होती है, किन्तु सामाजिक व्यवस्था ही पूंजीके अर्जनमें कारण है। हाँ धनकी प्राप्ति, अप्राप्तिको साता, असाताके उदयमें नोकर्म—कर्मोदयमें सहायक कारण माना जा सकता है। अतएव सामाजिक व्यवस्थामें सुधार कर समाजके प्रत्येक सदस्यको उन्नतिके समान अव-सर प्रदान करना प्रत्येक मानवका कर्त्तव्य है।

संयमवाद—संसारमें सम्पत्ति एवं भोगोपभोग की सामग्री कम है, भोगने वाले ज्यादा हैं और तृष्णा भी अधिक है, इसीलिये प्राणियोंमें परस्पर संघर्ष और छीना-झपटी होती है, फलतः समाजमें नाना प्रकारके अत्याचार और अन्याय होते हैं जिससे अहर्निश समाजमें दुःख बढ़ता जाता है। परस्परमें ईर्षा, द्वेषकी मात्रा और भी अधिक है जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिको उन्नतिका अवसर ही नहीं मिलने देता। इन सब बातोंका परिणाम यह होता है कि समाजमें संघर्षकी मात्रा बढ़कर विषमतारूपी जहर उत्पन्न होजाता है।

१ तन्मूलाः सर्वदोषानुषङ्गाः—स परिग्रहो मूलमेषां ते तन्मूलाः। के पुनस्ते सर्वदोषानुषंगाः, ममेदमिति हि सति संकल्पे रक्षणादयः संजायते। तत्र च हिंसावश्यं भाविनी तदर्थमनृतं जल्पति चौर्यं चाचरति मैथुने च कर्मणि प्रतियतते। —राजवार्तिक पृ० २७६

अविश्वासतमोनक्तं लोभानलघृताहुतिः।
आरम्भमकराम्भोधिरहो श्रेयः परिग्रहः॥
—सागारधर्मामृत अ० ४ श्लो० ६३

१ देखें, श्री पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित कर्मव्यवस्था शीर्षक निबन्ध, जो शीघ्र प्रकाशित हो रहा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस हलाहलकी एकमात्र औषधि संयमवाद है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं, वासनाओं और कषायों[1]पर नियन्त्रण रखकर छीना-झपटीको दूर कर दे तो समाजमेंसे आर्थिक विषमता अवश्य दूर होजाय तथा सभी सदस्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति निराकुलरूपसे कर सकें।

संयमके दो भेद हैं—इन्द्रियसंयम और प्राणि-संयम। इन्द्रियोंको वशमें करना इन्द्रियसंयम है। इस संयमका पालने वाला अपने जीवनके निर्वाहके लिये इन्द्रियजय-द्वारा कमसे कम सामग्रीका उपभोग करता है, शेष सामग्री अन्य लोगोंके काम आती है, इससे संघर्ष कम होता है और विषमता दूर होती है। यदि एक मनुष्य अधिक सामग्रीका उपभोग करे तो दूसरोंके लिये सामग्री कम पड़ेगी तथा शोषणकी शुरुआत भी यहींसे हो जायगी। समाजमें पूंजीका समान वितरण होजानेपर भी जबतक तृष्णा शान्त नहीं होगी, अवसर मिलनेपर मनमाना उपभोग लोग करते ही रहेंगे तथा वर्ग-संघष चलता रहेगा। अतएव आर्थिक वैषम्यको दूर करनेके लिये अपनी इच्छाओं और लालसाओंको प्रत्येक व्यक्तिको नियन्त्रित करना होगा, तभी समाज सुखी और समृद्धिशाली बन सकेगा।

प्राणिसंयम—अन्य प्राणियोंको किञ्चित् भी दुःख न देना प्राणिसंयम है। अर्थात् संसारके समस्त प्राणियोंकी सुख-सुविधाओंका पूरा-पूरा खयाल रखकर अपनी प्रवृत्ति करना, समाजके प्रति अपने कर्तव्यको अदा करना एव व्यक्तिगत स्वार्थ भावनाको त्याग कर समस्त प्राणियोंके कल्याणकी भावनासे अपने प्रत्येक कार्यको करना प्राणिसंयम है। इतना निश्चित है कि जबतक समर्थ लोग संयम-पालन नहीं करेंगे तबतक निर्बलोंको पेट भर भोजन नहीं मिल सकेगा और न समाजका रहन-सहन ही ऊँचा हो सकेगा। जैनाचार्योंने संयमको आत्मशुद्धि और उसके विकासका साधन तो माना ही है, पर इसका रहस्य सामाजिक आर्थिक व्यवस्थाको सुदृढ बनाना है। शासित और शासक या शोषित और शोषक इन वर्गोंकी बुनियाद भी संयमके पालन-द्वारा दूर होजायगी। क्या आजका समाज स्वार्थ-त्यागकी कठिन तपस्या कर वर्गसंघर्षको दूर कर सकेगा।

सामाजिक दृष्टिकोण

समस्त प्राणियोंको उन्नतिके अवसरोंमें समानता प्रदान करना जैनधर्मका सामाजिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तका व्यावहारिकरूप अहिंसाकी बुनियादपर आश्रित है। इसी कारण जैन अहिंसाका क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि उससे जीवनका कोई भी कोना अछूता नहीं है। परस्पर भाई-भाईकासा व्यवहार करना, एक दूसरेके दुःखदर्दमें सहायक होना, दूसरों को ठीक अपने समान समझना, हीनाधिककी भावनाका त्याग करना, अन्य लोगोंकी सुखसुविधाओं को समझना तथा उनके विपरीत आचरण न करना अहिंसा है। जैनधर्मकी अहिंसाका ध्येय केवल मानव समाजका ही कल्याण करना नहीं है, किन्तु पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े आदि समस्त प्राणियोंको जानदार समझकर उन्हें किसी प्रकारका कष्ट न देना, उनकी उन्नति और विकासकी चेष्टा करना, सर्वत्र सुख और शान्ति स्थापित करनेके लिये विश्वप्रेमके सूत्रमें आबद्ध होना सम्प्रदाय, जाति या वर्गगत वैषम्यको दूर करना है।

मानवका सामाजिक सम्बन्ध कुछ हद तक पाश-विक शक्तियोंके द्वारा संचालित होता आ रहा है। इसका प्रारम्भ कुछ अधिनायकशाही मनोवृत्तिके व्यक्तियों द्वारा हुआ है जो अपनी सत्ता समाजपर लादकर उसका शोषण करते रहते हैं। अहिंसा ही एक ऐसी वस्तु है जो मानवकी मानवताका मूल्याङ्कन कर उपर्युक्त अधिनायकशाहीकी मनोवृत्तिको दूर कर सकती है। पाखण्ड और धोखेबाजीकी भावनाएँ ही संसारमें अपना प्रभुत्व स्थापित कर साम्राज्यवादकी नींवको दृढ करती हैं। क्योंकि सत्ता और धोखा ये दोनों ही एक दूसरेपर आश्रित हैं तथा इन्हें एक

१ कषत्यात्मानमिति कषायः क्रोधादिपरिणामः, कषति हिनस्त्यात्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः।

—राजवार्तिक पृ० २४८

ही कार्यके दो भेद कहा जा सकता है। चन्द व्यक्ति सत्ताके द्वारा जिस कार्यको सम्पादित नहीं कर सकते, उसीको धोखे द्वारा पूरा करते हैं। जब शोषितवर्ग उस सत्ताके प्रति बगावत करता है तो ये सत्ताधारी अपने प्रचार और बल प्रयोग द्वारा उसे दबानेका प्रयत्न करते हैं; इस प्रकार सघर्षका क्रम चलता रहता है। अहिंसाकी दैवीशक्ति ही इस संघर्षकी प्रक्रियाका अन्त कर वर्गसंघर्षको दूर कर सकती है।

जैनधर्ममें कुविचार[१] मात्रको हिंसा कहा है। दंभ, पाखंड, ऊँच-नीचकी भावना, अभिमान, स्वार्थ-बुद्धि, छल-कपट, प्रभृति समस्त भावनाएँ हिंसा हैं।

समाजको सुव्यवस्थित करनेके लिये अहिंसाका विस्तार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहके रूपमें किया गया है।

सत्य (truthfullness)—अहिंसाकी भावना सच्चाईके सिद्धान्तसे पूरी तरह सम्बद्ध है। यह पहले कहा गया है कि सत्ता और धोखा ये दोनों ही समाजके अकल्याणकारक हैं, इन दोनोंका जन्म झूठसे होता है, झूठा व्यक्ति आत्मवञ्चना तो करता ही है किन्तु समाजकी नींवको घुनकी भाँति खा जाता है। प्रायः देखा जाता है कि मिथ्याभाषणका आरम्भ खुदगर्जीकी भावनासे होता है, सर्वात्महित-वादकी भावना असत्य भाषणमें बाधक हैं। स्व-च्छन्दता और उच्छृङ्खलता जैसी समाजको जर्जरित करने वाली कुभावनाएँ असत्य भाषणसे ही उत्पन्न होती हैं। क्योंकि मानव समाजका समस्त व्यवहार वचनोंसे ही चलता है वचनोंमें दोष आजानेसे समाज-की बड़ी भारी क्षति होती है। लोकमें भी प्रसिद्धि है कि इसी जिह्वामें विष और अमृत दोनों हैं अर्थात् समाजको उन्नत स्तरपर ले जाने वाले अहिंसक वचन अमृत और समाजको हानि पहुँचाने वाले हिंसक वचन विष हैं। अतएव मानव समाजके व्यवहारको यथार्थ रीतिसे सम्पादित करनेके लिये विश्वासघातक, परनिन्दा एवं परपीड़ाकारक, आत्मप्रशंसक एवं स्वार्थ-साधक वचनोंका त्याग करना चाहिये। सचाई ही समाजकी व्यवस्थाको मजबूत बना सकती है।

अस्तैय (अचौर्य) की भावना मानवके हृदयमें अन्य व्यक्तियोंके अधिकारोंके लिये स्वाभाविक सम्मान जागृत करती है। इसका वास्तविक रहस्य यह है कि किसीको दूसरेके अधिकारोंपर हस्तक्षेप करना उचित नहीं है, बल्कि प्रत्येक अवस्थामें सामाजिक हितकी भावनाको ध्यानमें रखकर ही कार्य करना उचित है। यहाँ इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि अधिकार वह सामाजिक वातावरण है जो व्यक्तित्वकी वृद्धिके लिये आवश्यक और सहायक होता है। यदि इसका दुरुपयोग किया जाय तो सामाजिक जीवनका विकास या ह्रास भी इसीपर अवलम्बित होजाता है। इसलिये जैनाचार्यों ने अधिकारको व्यक्तिगत न मानकर सामाजिक माना है और उनका कथन है कि समाजके प्रत्येक घटकको अपने अधिकारोंका प्रयोग ऐसा करना होगा जिससे अन्य किसीके अधिकारमें बाधा उपस्थित न हो। जो वैयक्तिक जीवनमें अधिकार है सामाजिक जीवन में वही कर्तव्य होजाता है, इसलिये अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरेके आश्रित हैं, ये एक ही वस्तुके दो रूप हैं। जब व्यक्ति अन्यकी सुविधाओंका खयाल कर अधिकारका प्रयोग करता है तो वह अधिकार समाजके लिये अनुशासनके रूपमें हितकारक बन जाता है।

यदि कोई व्यक्ति अपने अधिकारोंपर जोर दे और अन्यके अधिकारोंकी अवहेलना करे तो उसे किसी भी अधिकारको प्राप्त करनेका हक नहीं है। अधिकार और कर्तव्यके उचित प्रयोगका ज्ञान प्राप्त करना ही सामाजिक जीवन-कलाका प्रथम पाठ है जिसे प्रत्येक व्यक्तिको अचौर्य भावनाके अभ्यास द्वारा स्मरण करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य—अधिकार और कर्त्तव्यके प्रति आदर ऐसी चीजें नहीं हैं जिन्हें किसीके ऊपर जबर्दस्ती

---

१ अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषांमेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ४४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लादा जा सके। नैतिकता और बलप्रयोग ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। अतएव जैनधर्मने ब्रह्मचर्यकी भावना-द्वारा स्वनिरीक्षणकी प्रवृत्तिपर जोर दिया है, क्योंकि इस प्रक्रिया-द्वारा नैतिक जीवनका श्रीगणेश होता है। अहिंसाका पालन भी ब्रह्मचर्यके पालनपर आश्रित है। सामाजिक जीवनमें संगठनकी शक्ति भी इसीके द्वारा जागृत होती है। बिना संयमके समाज-की व्यवस्था सुचारुरूपसे नहीं की जा सकती है, क्योंकि सामाजिक जीवनका आधार नैतिकता ही है। प्रायः देखा जाता है कि संसारमें छीना-झपटीकी दो ही वस्तुएँ हैं, कामिनी और कञ्चन। जबतक इन दोनोंके प्रति आन्तरिक संयमकी भावना उत्पन्न न होगी तबतक सामाजिक जीवन कण्टकाकीर्ण माना जायगा। सारांश यह है कि जीवन-निर्वाह—शारीरिक आवश्यकताकी पूर्तिके लिये अपने उचित हिस्सेसे अधिक ऐन्द्रियिक सामग्रीका उपयोग न करना व्याव-हारिक ब्रह्म-भावना है।

अपरिग्रहकी भावना-द्वारा समाजमें सुख और शान्ति स्थापित की जाती है। इसके सम्बन्धमें पहले लिखा जा चुका है।

समाजमें ऊँच-नीच और छूआ-छूतकी भावनाको पुष्ट करनेवाली जन्मना वर्ण-व्यवस्थाको जैनधर्ममें नहीं माना है। जैनाचार्योंने स्पष्टरूपसे समाजके समस्त सदस्योंको मानवताकी दृष्टिसे एक स्तरपर लानेके लिये आचारको महत्ता दी है। जिस व्यक्तिका सदा-चार जितना ही समाजके अनुकूल होगा, वह व्यक्ति उतना ही समाजमें उन्नत माना जायगा, किन्तु स्थान उसका भी सामाजिक सदस्यके नाते वही होगा जो अन्य सदस्योंका है। दलितवर्गका शोषण और जातिवादके दुरभिमानको, जिससे समाजको अहर्निश खतरोंका सामना करना पड़ता है, जैनधर्ममें स्थान नहीं दिया है। जैन तीर्थङ्करोंने एक मनुष्य जाति मानकर व्यवहार-मूलक वर्णव्यवस्था[१] बतलाई है—

कम्मुणा बम्भणो होई कम्मुणा होई खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होई सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

इस प्रकार सामाजिक भेद-भावकी खाईको जैनाचार्योंने दूरकर समाजको एक संगठनके भीतर आबद्ध करनेका प्रयत्न किया है।

राजनैतिक दृष्टिकोण

यद्यपि धर्मका राजनीतिसे सम्बन्ध नहीं है, फिर भी समाज और व्यक्तिके साथ सम्बन्ध रहनेसे राज-नीतिके साथ भी सम्बन्ध मानना पड़ता है। जैनधर्म सदासे प्रजातन्त्र राज्यका समर्थक रहा है। इतिहास इस बातका साक्षी है कि भगवान् महावीरके पिता महाराज सिद्धार्थ वैशालीकी जनता-द्वारा चुने गये शासक थे। जैसे प्राचीन राजनीतिके ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्रमें राजाको ईश्वरीय अंश मानकर उसकी सर्वोपरि शक्ति स्वीकार की है, वैसे जैनधर्ममें नहीं। जैन राजनीतिमें राजा शब्दका प्रयोग राज्यकी जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्तिके रूपमें ही हुआ है, इसीलिये राजाको जनताके धर्म, अर्थ और काम इन तीनों वर्गोंकी समानरूपसे उन्नति करनेवाला, संगठन-कर्त्ता माना है। राज्यके प्रत्येक व्यक्तिके वैयक्तिक आचरणका विश्लेषण करते हुए कहा गया है—

"सर्वसत्त्वेषु[१] हि समता सर्वाचरणानां परमाचरणम्"

अर्थात्—उस राष्ट्रके समस्त प्राणियोंमें समानता-का व्यवहार करना ही परमाचरण है। तात्पर्य यह है कि लौकिक दृष्टिसे व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको स्वीकार करते हुए भी समाजको उच्च स्थान प्रदान कर उसके प्रत्येक घटकके साथ भाई-भाईकासा व्यवहार अनु-शासित ढङ्गसे सम्पन्न करना परम कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है। इस कर्त्तव्यकी अवहेलना जनता द्वारा निर्वाचित राजा भी नहीं कर सकता है।

लोकतन्त्रके सिद्धान्तों-द्वारा समाजके सभी सदस्योंके हितकी बातोंमें सभीका मत लेना आवश्यक है। जैन राजनीतिकारोंने तो स्पष्टरूपसे कहा है कि मनुष्य और उसके विचार समयकी आर्थिक परि-

१ मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदा हि तद्भेदाचातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ आ. पु. ३८।४५
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते॥ —गुणभद्र

१ नीतिवाक्यामृत धर्मसमुद्देश। सूत्र ४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थितियोंसे निर्मित और परिवर्तित होते हैं। अतः समस्त समाजकी यदि भोजन-छादनकी सुव्यवस्था होजाय तो फिर सभी आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर अग्रसर हो सकें। अतएव शक्तिके अनुसार कार्य और आवश्यकतानुसार पुरस्कारवाले नुस्खेका प्रयोग समाज और व्यक्ति दोनोंके विकासमें अत्यन्त सहायक होगा।

उपर्युक्त जैनधर्मके सिद्धान्तोंकी आजके समाजवादके सिद्धान्तोंके साथ तुलना करनेप ज्ञात होगा कि आजके समाजवादमें जहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको विशेष महत्ता नहीं, वहाँ जैनधर्मके समाजवादमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको बड़ी भारी महत्ता दी गई है, और उसे समाजकी इकाई स्वीकार करते हुए भी समाजकी श्रीवृद्धिका उत्तरदायी माना है। यद्यपि आज भी समाजवादके कुछ आचार्य उसकी कमियोंको समझकर आध्यात्मिकवादका पुट देना उचित मानते हैं तथा उसे भारतीयताके रङ्गमें रङ्गकर उपयोगी बनानेका प्रयत्न कर रहे हैं। जैनधर्मके उपर्युक्त सिद्धान्त निम्न समाजवादके सिद्धान्तोंके साथ मेल खाते हैं—

१—समाजको अधिक महत्व देना, पर व्यक्तिके ऊपर जबरदस्ती किसी भी बातको न लादना। इकाईके समृद्ध होनेपर ही समाज भी समृद्ध हो सकेगाके सिद्धान्तको सदा ध्यानमें रखना।

२—एक मानव-जाति मानकर उन्नतिके अवसरोंमें समानताका होना।

३—विकासके साधनोंका कुछ ही लोगोंको उपभोग करनेसे रोकना और समस्त समाजको उन्नतिके रास्तेपर ले जाना।

४—पूञ्जीवादको प्रोत्साहन न देना, इसकी विदाईमें ही समाजकी भलाई समझना।

५—हानिकारक स्पर्धाको जड़से उखाड़ फेंकना।

६—शोषण, हीनाधिकताकी भावना, ऊँच-नीचका व्यवहार, स्वार्थ, दम्भ आदिको दूर करना।

७—समाजको प्रेम-द्वारा सङ्गठित करना।

जैनधर्मके समाजवादमें आजके समाजवादी सिद्धान्तोंसे मौलिक विशेषताएँ—

१—भौतिक और बौद्धिक उन्नतिके साथ नैतिक उन्नतिको चरम लक्ष्य स्वीकार करना।

२—आत्माको अमर मानकर उसके विकासके लिये वैयक्तिकरूपसे प्रयत्न करना। जहाँ भौतिक उन्नतिमें समाजको सर्वोपरि महत्ता प्राप्त है, वहाँ आत्मिक उन्नतिमें व्यक्तिको।

३—बलप्रयोग-द्वारा विरोधी शक्तियोंको नष्ट न करना, बल्कि विचार-सहिष्णु बनकर सुधार करना।

४—अधिनायकशाहीकी मनोवृत्ति—जो कि आजके समाजवादमें कदाचित् उत्पन्न हो जाती है और नेशनके नामपर व्यक्तिके विचार-स्वातन्त्र्यको कुचल दिया जाता है, जैनधर्ममें इसे उचित नहीं माना है।

५—हिंसापर विश्वास न कर अहिंसा द्वारा समाजका सङ्गठन करना तथा प्रेम-द्वारा समस्त समाजकी विपत्तियोंका अन्त कर कल्याण करना[१]।

६—व्यक्तिकी आवाजकी कीमत करना तथा बहुमत या सर्वमत-द्वारा समाजका निर्माण और विकास करना।

वर्तमान जैनधर्मानुयायी

आज जैनधर्मके अनुयायियोंके आचरणमें समाजवादकी गन्ध भी नहीं है। इसीलिये प्रायः लोग इसे साम्राज्यवादी धर्म समझते हैं। वास्तविक बात यह है कि देश और समाजके वातावरणका प्रभाव प्रत्येक धर्मके अनुयायियोंपर पड़ता है। अतः समय-दोषसे इस धर्मके अनुयायी भी बहुसंख्यकोंके प्रभावमें आकर अपने कर्त्तव्यको भूल बैठे, केवल बाह्य आचरण तक ही धर्मको सीमित रखा। अन्य संस्कृतियोंके प्रभावके कारण कुछ दोष भी समाजमें प्रविष्ट होगये हैं तथा अहिंसक समाजकी अहिंसा केवल बाह्य आडम्बर तक ही सीमित है। फिर भी इतना तो निष्पक्ष होकर स्वीकार करना पड़ेगा कि भगवान महावीरकी देन जैन समाजमें इतनी अब

१ सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
—युक्त्यनुशासन श्लो० ६१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्मति-विद्या-विनोद

प्यारी पुत्रियो ! सन्मती और विद्यावती ! आज तुम मेरे सामने नहीं हो—तुम्हारा वियोग हुए युग बीत गये; परन्तु तुम्हारी कितनी ही स्मृति आज भी मेरे सामने स्थित है—हृदयपटलपर अङ्कित है। भले ही कालके प्रभावसे उसमें कुछ धुंधलापन आगया है, फिर भी जब उधर उपयोग दिया जाता है तो वह कुछ चमक उठती है।

बेटी सन्मती,

तुम्हारा जन्म असोज सुदि ३ संवत १९५६ शनिवार ता० ७ अक्तूबर सन् १८९९ को दिनके १२ बजे सरसावामें उसी सूरजमुखी चौबारेमें हुआ था जहाँ मेरा, मेरे सब भाइयोंका, पिता-पितामहका और न जाने कितने पूर्वजोंका जन्म हुआ था और जो इस समय भी मेरे अधिकारमें सुरक्षित है। भाई-बाँटके अवसरपर उसे मैंने अपनी ही तरफ लगा लिया था।

बालकोंके जन्म समय इधर ब्राह्मणियाँ जो बधाई गाती थीं वह मुझे नापसन्द थी तथा असङ्गत-सी जान पड़ती थी और इसलिये तुम्हारे जन्मसे दो एक मास पूर्व मैंने एक मङ्गलबधाई[1] स्वयं तैयार की थी और उसे ब्राह्मणियोंको सिखा दिया था। ब्राह्मणियोंको उस समय बधाई गानेपर कुछ पैसे-टके ही मिला करते थे, मैंने उन्हें जो मिलता था उससे दो रुपये अधिक अलगसे देनेके लिये कह दिया था और इससे उन्होंने खुशी-खुशी बधाईको याद कर लिया था। तुम्हारे जन्मसे कुछ दिन पूर्व ब्राह्मणियोंकी तरफसे यह सवाल उठाया गया कि यदि पुत्रका जन्म न होकर पुत्रीका जन्म हुआ तो इस बधाईका क्या बनेगा ? मैंने कह दिया था कि मैं पुत्र-जन्म और पुत्रीके जन्ममें कोई अन्तर नहीं देखता हूँ—मेरे लिये दोनों समान हैं—और इसलिये यदि पुत्रीका जन्म हुआ तब भी तुम इस बधाईको खुशीसे गासकती हो और गाना चाहिए। इसीसे इसमें पुत्र या सुत जैसे शब्दोंका प्रयोग न करके 'शिशु' शब्दका प्रयोग किया गया है और उसे ही 'दें आशिश् शिशु हो गुणधारी' जैसे वाक्य-द्वारा आशीर्वादके दिये जानेका उल्लेख किया गया है। परन्तु रूढिवश पिताजी और बूआजी आदिके विरोधपर ब्राह्मणियोंको तुम्हारे जन्मपर बधाई गानेकी हिम्मत नहीं हुई; फिर भी तुम्हारी माताने अलगसे ब्राह्मणियोंको अपने पास बुलाकर बिना गाजे-बाजेके ही बधाई गवाई थी और उन्हें गवाईके वे २) रु० भी दिये थे। साथ ही दूसरे सब नेग भी यथाशक्ति पूरे किये थे जो प्राय: पुत्र-जन्मके अवसरपर दूसरोंको कुछ देने तथा उपहारमें आये हुए

१ इस मंगल बधाईकी पहली कली इस प्रकार थी—

"गावो री बधाई सखि मंगलकारी।"

भी शेष है कि एक लंगोटी लगाने वाला जिसके पास दो शाम खानेको है, वह भी अपना एक शामका भोजन दान कर सकता है। जहाँ जैनियोंके परिग्रह संचयके उदाहरण हैं वहाँ परिग्रह त्यागके भी सैकड़ों उदाहरण वर्तमान हैं। इसीलिये ये बिना सरकारी सहायताके शिक्षा-प्रचार एवं अन्य सामाजिक उन्नति-के कार्य जैनसमाज-द्वारा अनेक होरहे हैं।

आज स्वतन्त्र भारतमें भगवान महावीरके उपर्युक्त समाजवादके प्रचारकी नितान्त आवश्यकता है। इससे समाजको बड़ी भारी शान्ति मिलेगी। क्या प्रमुख नेता लोग इधर ध्यान देंगे ?

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको राष्ट्रपालः,
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जोड़े-झग्गों आदिपर रुपये रखने आदिके रूपमें किये जाते हैं।

तुम्हारा नाम मैंने केवल अपनी रुचिसे ही नहीं रक्खा था बल्कि श्रीआदिपुराण-वर्णित नामकरण-संस्कारके अनुसार १००८ शुभ नाम अलग-अलग कागजके टुकड़ोंपर लिखकर और उनकी गोलियाँ बनाकर उन्हें प्रसूतिगृहमें डाला था और एक बच्चेसे एक गोली उठवाकर मँगाई गई थी। उस गोलीको खोलने पर 'सन्मतिकुमारी' नाम निकला था और यही तुम्हारा पूरा नाम था। यों आम बोल-चालमें तुम्हें 'सन्मती' कहकर ही पुकारा जाता था।

तुम्हारी शिक्षा वैसे तो तीसरे वर्ष ही प्रारम्भ होगई थी परन्तु कन्यापाठशालामें तुम्हें पाँचवें वर्ष बिठलाया गया था। यह कन्यापाठशाला देवबन्दकी थी, जहाँ सहारनपुरके बाद सन् १९०५ में मैं मुख्तारकारीकी प्रैकटिस करनेके लिये चला गया था और कानूगोयानके मुहल्लेमें ला० दूल्हाराय जैन साबिक पटवारीके मकानमें उसके सूरजमुखी चौबारेमें रहता था। निद्धी पण्डित, जो तुम्हें पढ़ाता था, तुम्हारी बुद्धि और होशयारीकी सदा प्रशंसा किया करता था। मुझे तुम्हारे गुणोंमें चार गुण बहुत पसन्द थे—१ सत्यवादिता, २ प्रसन्नता, ३ निर्भयता और ४ कार्य-कुशलता। ये चारों गुण तुममें अच्छे विकसित होते जारहे थे। तुम सदा सच बोला करती थी और प्रसन्न-चित्त रहती थी। मैंने तुम्हें कभी रोते-रडाते अथवा जिद्द करते नहीं देखा। तुम्हारे व्यवहारसे अपने-पराये सब प्रसन्न रहते थे और तुम्हें प्यार किया करते थे। सहारनपुर मुहल्ले चौधरियानके ला० निहालचन्दजी और उनकी स्त्री तो, जो मेरे पासकी निजी हवेलीमें रहते थे, तुमपर बहुत मोहित थे, तुम्हें अक्सर अपने पास खिलाया-पिलाया और सुलाया करते थे, उसमें सुख मानते थे और तुम्हें लाड़में 'सबजी' कह कर पुकारा करते थे—तुम्हारे कानोंकी बालियोंमें उस वक्त सबजे पड़े हुये थे। जब कभी मैं रातको देरसे घर पहुँचता और इससे दहलीजके किवाड बन्द हो जाते तब पुकारनेपर अक्सर तुम्हीं अँधेरेमें ही ऊपर से नीचे दौड़ी चली आकर किवाड खोला करती थी, तुम्हें अँधेरेमें भी डर नहीं लगता था, जब कि तुम्हारी माँ कहा करती थी कि मुझे तो डर लगता है, यह लड़की न मालूम कैसी निडर निर्भय प्रकृतिकी है जो अँधेरेमें भी अकेली चली जाती है। तुम्हारी इस हिम्मतको देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती थी।

एक दिन रातको मुझे स्वप्न हुआ कि एक अर्धनग्न श्यामवर्ण स्त्री अपने आगे पीछे और इधर उधर मरे हुये बच्चोंको लटकाए हुए एक उत्तरमुखी हवेलीमें प्रवेश कर रही है जो कि ला० जवाहरलालजी जैन की थी। इस बीभत्स दृश्यको देखकर मुझे कुछ भय-सा मालूम हुआ और मेरी आँख खुल गई। अगले ही दिन यह सुना गया कि ला० जवाहरलालजीके बड़े लड़के राजारामको प्लेग होगई, जिसकी हालमें ही शादी अथवा गौना हुआ था! यह लड़का बड़ा ही सुशील, होनहार और चतुर कारोबारी था तथा अपनेसे विशेष प्रेम रखता था। तीन-चार दिन में ही यह कालके गालमें चला गया!! इस भारी जवान मौतसे सारे नगरमें शोक छागया और प्लेग भी जोर पकड़ती गई।

कुछ दिन बाद तुम्हारी माताने कोई चीज बनाकर तुम्हारे हाथ ला० जवाहरलालजीके यहाँ भेजी थी वह शायद शोकके मारे घरपर ली नहीं गई तब तुम किसी तरह ला० जवाहरलालजीको दुकानपर उसे दे आई थी। शामको या अगले दिन जब ला० जवाहरलालजी मिले तो कहने लगे कि—'तुम्हारी लड़की तो बड़ी होशयार होगई है, मेरे इन्कार करते हुए भी मुझे दुकानपर ऐसी युक्तिसे चीज दे गई कि मैं तो देखकर दङ्ग रह गया।' इस घटनासे एक या दो दिन बाद तुम्हें भी प्लेग होगई! और तुम उसीमें माघ सुदी १०मी संवत् १९६३ गुरुवार तारीख २४ जनवरी सन् १९०७को सन्ध्याके छह बजे चल बसी!! कोई भी उपचार अथवा प्रेम-बन्धन तुम्हारी इस विवशा गतिको रोक नहीं सका!!!

तुम्हारे इस वियोगसे मेरे चित्तको बड़ी चोट लगी थी और मेरी कितनी ही आशाओंपर पानी फिर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गया था ! एक वृद्ध पुरुष श्मशानभूमिमें मुझे यह कह कर सान्त्वना दे रहे थे कि 'जाओ धान रहो क्यारी, अबके नहीं तो फिरके बारी'। फिर तुम्हारी माताके दुख-दर्द और शोककी तो बात ही क्या है ? उसने तो शोकसे विकल और वेदनासे विह्वल होकर तुम्हारे नये-नये वस्त्र भी बक्सोंमेंसे निकालकर फेंक दिये थे ! वे भी तुम्हारे बिना अब उसकी आँखोंमें चुभने लगे थे। परन्तु मैंने तुम्हारी पुस्तकों आदिके उस बस्तेको जो काली किरमिचके बैगरूपमें था और जिसे तुम लेकर पाठशाला जाया करती थी तुम्हारी स्मृतिके रूपमें वर्षों तक ज्योंका त्यों कायम रक्खा है। अब भी वह कुछ जीर्ण-शीर्ण अवस्थानमें मौजूद है— अर्से बाद उसमेंसे एक दो लिपि-कापी तथा पुस्तक दूसरोंको दीगई हैं और सलेटको तो मैं स्वयं अपने मौन वाले दिन काममें लेने लगा हूँ।

नामकरणके बाद जब तुम्हारे जन्मकी तिथि और तारीखादिको एक नोटबुकमें नोट किया गया था तब उसके नीचे मैंने लिखा था 'शुभम्'। मरणके बाद जब उसी स्थानपर तुम्हारी मृत्युकी तिथी आदि लिखी जाने लगी तब मुझे यह सूझ नहीं पड़ा कि उस दैविक घटनाके नीचे क्या विशेषण लगाऊँ ! 'शुभम्' तो मैं उसे किसी तरह कह नहीं सकता था; क्योंकि वैसा कहना मेरे विचारोंके सर्वथा प्रतिकूल था। और 'अशुभम्' विशेषण लगानेको एकदम मन जरूर होता था परन्तु उसके लगानेमें मुझे इसलिये संकोच हुआ था कि मैं भावीके विधानको उस समय कुछ समझ नहीं रहा था—वह मेरे लिए एक पहेली बन गया था। इसीसे उसके नीचे कोई भी विशेषण देने में मैं असमर्थ रहा था।

बेटी विद्यावती,

तुम्हारा जन्म ता० ७ दिसम्बर सन् १९१७ को सरसावामें मेरे छोटे भाई बा० रामप्रसाद सबओवर सियरकी उस पूर्वमुखी हवेलीके सूरजमुखी निचले मकानमें हुआ था जो अपनी पुरानी हवेलीके सामने अभी नई तैयार कीगई थी और जिसमें भाई रामप्रसाद के ज्येष्ठ पुत्र चि० ऋषभचन्दके विवाहकी तैयारियाँ होरही थीं। जन्मसे कुछ दिन बाद तुम्हारा नाम 'विद्यावती' रक्खा गया था; परन्तु आम बोल-चालमें तुम्हें 'विद्या' इस लघु नामसे ही पुकारा जाता था।

तुम्हारी अवस्था अभी कुल सवा तीन महीनेकी ही थी जब अचानक एक वज्रपात हुआ, तुम्हारे ऊपर विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा ! दुर्दैवने तुम्हारे सिरपरसे तुम्हारी माताको उठा लिया !! वह देवबन्द के उसी मकानमें एक सप्ताह निमोनियाकी बीमारीसे बीमार रहकर १६ मार्च सन् १९१८ को इस असार संसारसे कूँच कर गई !!! और इस तरह विधिके कठोर हाथों-द्वारा तुम अपने उस स्वाभाविक भोजन —अमृतपानसे वञ्चित करदी गई जिसे प्रकृतिने तुम्हारे लिये तुम्हारी माताके स्तनोंमें रक्खा था ! साथ ही मातृ-प्रेमसे भी सदाके लिये विहीन होगई !!

इस दुर्घटनासे इधर तो मैं अपने २५ वर्षके तपे तपाये विश्वस्त साथीके वियोगसे पीडित ! और उधर उसकी धरोहर-रूपमें तुम्हारे जीवनकी चिन्तासे आकुल !! अन्तको तुम्हारे जीवनकी चिन्ता मेरे लिये सर्वोपरि हो उठी। पासके कुछ सज्जनोंने परामर्श-रूपमें कहा कि तुम्हारी पालना गायके दूध, बकरीके दूध अथवा डब्बेके दूधसे होसकती है; परन्तु मेरे आत्माने उसे स्वीकार नहीं किया। एक मित्र बोले— 'लड़कीको पहाड़पर किसी धायको दिला दिया जायगा, इससे खर्च भी कम पड़ेगा और तुम बहुत-सी चिन्ताओंसे मुक्त रहोगे। घरपर धाय रखनेसे तो बड़ा खर्च उठाना पड़ेगा और चिन्ताओंसे भी बराबर घिरे रहोगे।' मैंने कहा—'पहाड़ोंपर धाय द्वारा बच्चों की पालना पूर्ण तत्परताके साथ नहीं होती। धायको अपने घर तथा खेत-क्यारके काम भी करने होते हैं, वह बच्चेको यों ही छोड़कर अथवा टोकरे या मूढे आदिके नीचे बन्द करके उनमें लगती है और बच्चा रोता बिलखता पड़ा रहता है। धाय अपने घरपर जैसा-तैसा भोजन करती है, अपने बच्चेको भी पालती है और इसलिये दूसरेके बच्चेको समयपर यथेष्ठ भोजन भी नहीं मिल पाता और उसे व्यर्थके अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसके सिवाय, यह भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुना जाता है कि पहाड़ोंपर बच्चे बदले जाते हैं और लोभके वश दूसरोंको बेचकर मृत घोषित भी किये जाते हैं। परन्तु इन सबसे अधिक बड़ी समस्या जो मेरे सामने है वह संस्कारोंकी है। और सब कुछ ठीक होते हुए भी वहाँके अन्यथा संस्कारोंको कौन रोक सकेगा? मैं नहीं चाहता कि मेरी लड़की मेरे दोषसे अन्यथा संस्कारोंमें रहकर उन्हें ग्रहण करे।' और इसलिये अन्तको यही निश्चित हुआ कि घरपर धाय रखकर ही तुम्हारा पालन-पोषण कराया जाय। तदनुसार ही धायके लिये तार-पत्रादिक दौड़ाये गये।

भाई रामप्रसादजी आदिके प्रयत्नसे एककी जगह दो धाय आगराकी तरफसे आगईं, जिनमेंसे रामकौर धायको तुहारे लिये नियुक्त किया गया, जो प्रौढावस्थाकी होनेके साथ-साथ श्यामवर्ण भी थी—उस समय मैंने कहीं यह पढ़ रक्खा था कि श्यामा गायके दूधकी तरह बच्चोंके लिये श्यामवर्णा धायका दूध ज्यादा गुणकारी होता है। अतः तुम्हारे हितकी दृष्टिसे अनुकूल योजना हो जानेपर मुझे प्रसन्नता हुई। धायके न आने तक गाय-बकरीका दूध पीकर तुमने जो कष्ट उठाया, तुम्हारी जानके जो लाले पड़े और उसके कारण दादीजी तथा बहनगुणमालाको जो कष्ट उठाना पड़ा उसे मैं ही जानता हूँ। धायके आजानेपर तुम्हें साता मिलते ही सबको साता मिली।

तुम धायके साथ अधिकतर नानौता दादीजीके पास, सरसावा मेरे पास और तीतरों अपने नाना मुन्शी होशयारसिंहजीके यहाँ रही हो। जब तुम कुछ टुकड़ा-टेरा लेने लगी, अपने पैरों चलने लगी, बोलने-बतलाने लगी और गायका दूध भी तुम्हें पचने लगा तब तुम्हारी धाय रामकौरको विदा कर दिया गया और वह अपना वेतन तथा इनाम आदि लेकर ३० जून सन् १९१९ को चली गई। उसके चले जाने पर तुम्हारे पालन-पोषण और रक्षाका सब भार पूज्य दादीजी, बहन (बुआ) गुणमाला और चि० जयवन्तीने अपने ऊपर लिया और सबने बड़ी तत्परता एवं प्रेमके साथ तुम्हारी सेवा की है।

तुम अपनी अबोध-दशासे इतने असेंतक धायके पास रही, उसकी गोदी चढ़ी, उसका दूध पिया, उसके पास खेली-सोई और वह माताकी तरह दूसरी भी तुम्हारी सब सेवाएँ करती रही; फिर भी तुमने एक बार भी उसे 'माँ' कहकर नहीं दिया—दूसरोंके यह कहनेपर भी कि 'यह तो तेरी माँ है' तुम गर्दन हिला देती थी और पुकारनेके अवसरपर उसे 'ए-ए!' कहकर ही पुकारती थी। यह सब विवेक तुम्हारे अन्दर कहाँसे जागृत हुआ था वह किसीकी भी कुछ समझमें नहीं आता था और सबको तुम्हारी ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्तिपर आश्चर्य होता था।

दो-ढाई वर्षकी छोटी अवस्थामें ही तुम्हारी बड़े आदमियों जैसी समझकी बातें, सबके साथ 'जी'की बोली, दयापरिणति, तुम्हारा सन्तोष, तुम्हारा धैर्य और तुम्हारी अनेक दिव्य चेष्टाएँ किसीको भी अपनी ओर आकृष्ट किये बिना नहीं रहती थीं। तुम साधारण बच्चोंकी तरह कभी व्यर्थकी ज़िद करती या रोती-रड़ाती हुई नहीं देखी गई। अन्तकी भारी बीमारीकी हालतमें भी कभी तुम्हारे कूल्हने या कराहने तककी आवाज़ नहीं सुनी गई; बल्कि जब तक तुम बोलती रही और तुमसे पूछा गया कि 'तेरा जी कैसा है' तो तुमने बड़े धैर्य और गाम्भीर्यसे यही उत्तर दिया कि 'चोखा है'। वितर्क करनेपर भी इसी आशयका उत्तर पाकर आश्चर्य होता था! स्वस्थावस्थामें जब कभी कोई तुम्हारी बातको ठीक नहीं समझता था या समझनेमें कुछ गलती करता था तो तुम बराबर उसे पुनः पुनः कहकर या कुछ अते-पते की बातें बतलाकर समझानेकी चेष्टा किया करती थी और जबतक वह यथार्थ बातको समझ लेनेका इज़हार नहीं कर देता था तबतक बराबर तुम 'नहीं' शब्दके द्वारा उसकी गलत बातोंका निषेध करती रहती थी। परन्तु ज्यों ही उसके मुँहसे ठीक बात निकलती थी तो तुम 'हाँ' शब्दको कुछ ऐसे लहजेमें लम्बा खींचकर कहती थी, जिससे ऐसा मालूम होता था कि तुम्हें उस व्यक्तिकी समझपर अब पूरा सन्तोष हुआ है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तुम हमेशा सच बोलती थी और अपने अपराध-को खुशीसे स्वीकार कर लेती थी। बुद्धि विकासके साथ-साथ आत्मामें शुद्धिप्रियता, निर्भयता, निस्पृहता, हृदयोन्नता और स्पष्टवादिता जैसे गुणोंका विकास भी तेज़ीसे होरहा था। धायके चले जानेके बादसे तुम मैले-कुचैले वस्त्र पहने हुए किसी भी स्त्री या लड़की आदिकी गोद नहीं चढ़ती थी, जिसका अच्छा परिचय शामलीके उत्सवपर मिला, जबकि तुम्हें गोदीमें उठाये चलनेके लिये दादीजीने एक लड़कीकी योजना की थी; परन्तु तुमने उसकी गोदी चढ़कर नहीं दिया और कहा कि 'मैं अपने पैरों आप चलूँगी' और तुम हिम्मतके साथ बराबर अपने पैरों चलती रही जबतक कि तुम्हें थकी जानकर किसी स्वच्छ स्त्री या लड़कीने अपनी गोद नहीं उठाया। मुझे बड़ी प्रसन्नता होती थी, जब मैं अपने यहाँके दुकानदारोंसे यह सुनता था कि 'तुम्हारी विद्या इधर आई थी, हम उसे कुछ चीज देनेके लिये बुलाते रहे परन्तु वह यह कहती हुई चली गई कि "हमारे घर बहुत चीज है।" तुम्हारा खुदका यह उत्तर तुम्हारे सन्तोष, स्वाभिमान और तुम्हारी निस्पृहताका अच्छा परिचायक होता था।

एकबार बहन गुणमालाने चि. जयवंतीकी पाछा-पाड धोतीमेंसे तुम्हारे लिये एक छोटी धोती सवादो गजके करीब लम्बी तैयार की, जिसके दोनों तरफ चौड़ी किनारी थी और जो अच्छी साफ सुथरी धुली हुई थी। वह धोती जब तुम्हें पहनाई जाने लगी तो तुमने उसके पहननेसे इनकार किया और मेरे इस कहनेपर कि 'धोती बड़ी साफ सुन्दर है पहन लो' तुमने उसके स्पर्शसे अपने शरीरको अलग करते हुए साफ कह दिया "यह तो कत्तर है।" तुम्हारे इस उत्तरको सुनकर सब दङ्ग रह गये! क्योंकि इतने बड़े कपड़ेको 'कत्तर' का नाम इससे पहले किसीने नहीं सुना था। बहन गुणमाला कहने लगी—'भाई जी! तुम तो विद्याको सादा जीवन व्यतीत कराना चाहते हो, इसके कान-नाक बिंधवानेकी भी तुम्हारी इच्छा नहीं है परन्तु इसके दिमाग़को तो देखो जो इतनी बड़ी धोतीको भी 'कत्तर' बतलाती है!'

एक दिन सुबहके वक्त तुम मेरे कमरेके सामनेकी बगड़ीमें दौड़ लगा रही थी और तुम्हारे शरीरकी छाया पीछेकी दीवारपर पड़ रही थी। पासमें खड़ी हुई भाई हींगनलालजीकी बड़ी लड़कियाँ कह रही थीं 'देख, विद्या! तेरे पीछे भाई आरहा है।' पहले तो तुमने उनकी इस बातको अनसुनीसी कर दिया, जब वे बारबार कहती रहीं तब तुमने एकदम गम्भीर होकर डपटते हुए स्वरमें कहा "नहीं, यह तो छाँवला है।" तुम्हारे इस 'छाँवला' शब्दको सुनकर सबको हँसी आगई! क्योंकि छाया, छाँवली अथवा पडछाई की जगह 'छाँवला' शब्द पहले कभी सुननेमें नहीं आया था। आमतौरपर बच्चे बतलाने वालोंके अनु-रूप अपनी छायाको भाई समझकर अपने पीछे भाईका आना कहने लगते हैं, यही बात भाईकी लड़कियाँ तुम्हारे मुखसे कहलाना चाहती थीं, जिससे तुम्हारी निर्दोष बोली कुछ फल जाय; परन्तु तुम्हारे विवेकने उसे स्वीकार नहीं किया और 'छाँवला' शब्दकी नई सृष्टि करके सबको चकित कर दिया।

एक रोज़ मैं अपने साथ तुम्हें लिची, खरबूजा आदि कुछ फल खिला रहा था, तय्यार फलोंको खाते खाते तुमने एकदम अपना हाथ सिकोड़ लिया और मेरे इस पूछनेपर कि 'और क्यों नहीं खाती?' तुमने साफ कह दिया कि "मेरे पेटमें तो लिचीकी भूख है।" तुम्हारी इस स्पष्टवादितापर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मैंने लिचीका भरा हुआ बोहिया तुम्हारे सामने रखकर कहा कि इसमेंसे जितनी इच्छा हो उतनी लिची खालो। तुमने फिर दो-चार लिची और खाकर ही अपनी तृप्ति व्यक्त कर दी। इससे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ; क्योंकि मैं सङ्कोचादिके वश अनिच्छापूर्वक किसी ऐसी चीजको खाते रहना स्वास्थ्यके लिये हितकर नहीं समझता जो रुचिकर न हो। और मेरी हमेशा यह इच्छा रहती थी कि तुम्हारी स्वाभाविक इच्छाओंका विघात न होने पावे और अपनी तरफसे कोई ऐसा कार्य न किया जाय जिससे तुम्हारी शक्तियोंके विकासमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित हो या तुम्हारे आत्मापर कोई बुरा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

असर अथवा संस्कार पड़े।

जब तुम नानौतासे मेरी तथा दादी आदिके साथ देहली होती हुई पिछली बार मेरी साथ ता० २२ मई सन् १९२०को सरसावा आई तब मैंने तुम्हें यों ही विनोदरूपमें अपनी लायब्रेरीकी कुछ अलमारियाँ खोलकर दिखलाई थीं, देखकर तुमने कहा था "तुम्हारी यह अलमारी बड़ी चोखी हैं।" इसपर मैंने जब यह कहा कि बेटी! ये सब चीजें तुम्हारी हैं, तुम इन सब पुस्तकोंको पढ़ना' तब तुमने तुरन्त ही उलट कर यहकह दिया था कि "नहीं, तुम्हारी ही हैं तुम्हीं पढ़ना।" तुम्हारे इन शब्दोंको सुनकर मेरे हृदयपर एकदम चोटसी लगी थी और मैं क्षणभरके लिये यह सोचने लगा था कि कहीं भावीका विधान ही तो ऐसा नहीं जो इस बच्चीके मुँहसे ऐसे शब्द निकल रहे हैं। और फिर यह खयाल करके ही सन्तोष धारण कर लिया था कि तुमने आदर तथा शिष्टाचारके रूपमें ही ऐसे शब्द कहे हैं। इस बातको अभी महीनाभर भी नहीं हुआ था कि नगरमें चेचकका कुछ प्रकोप हुआ, घरपर भाई हींगनलालजीकी लड़कियोंको एक-एक करके खसरा निकला तथा कंठी नमूदार हुई और उन सबके अच्छा होनेपर तुम्हें भी उस रोगने आ घेरा—कण्ठी अथवा मोतीझारेका ज्वर हो आया! इधर दादीजीका पत्र आया कि वे बहन गुणमाला तथा चि० जयवन्तीको पं० चन्दा-बाईके पास आरा छोड़कर वापिस नानौता आगई हैं और पत्रमें तुम्हें जल्दी ही लेकर आनेकी प्रेरणा की गई थी। मैंने भी सोचा कि इस बीमारीमें तुम्हारी अच्छी सेवा और चिकित्सा दादीजीके पास ही हो सकेगी, और इसलिये मैं १७ जूनको तुम्हें लेकर नानौता आगया। दो-चार दिन बीमारीको कुछ शांति पड़ी और तुम्हारे अच्छा होनेकी आशा बँधी कि फिर एकदम बीमारी लौट गई। उपायान्तर न देखकर २६ जूनको तुम्हें सहारनपुर जैन शफ़ाखानेमें लाया गया, जहाँ २७की रातको तुमने दम तोड़ना शुरू किया और २८की सुबह होते होते तुम्हारा प्राण पखेरू एकदम उड़ गया!! किसीकी कुछ भी न चली!!! उसी वक्त तुम्हारे मृत शरीरको अन्तिम संस्कारके लिये शिक्रममें रखकर सरसावा लाया गया—साथमें दादीजी और एक दूसरे सज्जन भी थे। खबर पाते ही जनता जुड़ गई। कुटुम्ब तथा नगरके कितने ही सज्जनोंकी यह राय थी कि तुम्हारा दाह-संस्कार न करके पुरानी प्रथाके अनुसार तुम्हारे मृत-देहको जोहड़के पास गाड़ दिया जाय और उसके आस-पास कुछ पानी फेर दिया जाय; परन्तु मेरे आत्माको यह किसी तरह भी रुचिकर तथा उचित प्रतीत नहीं हुआ, और इसलिये अन्तको तुम्हारा दाह-संस्कार ही किया गया, जो सरसावामें तुम्हारे जैसे छोटी उम्रके बच्चोंका पहला ही दाह-संस्कार था।

इस तरह लगभग ढाई वर्षकी अवस्थामें ही तुम्हारा वियोग होजानेसे मेरे चित्तको बहुत बड़ा आघात पहुँचा था; क्योंकि मैंने तुम्हारे ऊपर बहुतसी आशाएँ बाँध रक्खी थीं और अनेक विचारोंको कार्यमें परिणत करनेका तुम्हें एक आधार अथवा साधन समझ रक्खा था। मैं तुम्हें अपने पास ही रखकर एक आदर्श कन्या और स्त्री समाजका उद्धार करने वाली एक आदर्श स्त्रीके रूपमें देखना चाहता था और तुम्हारे गुणोंका तेजीसे विकास उस सबके अनुकूल जान पड़ता था। परन्तु मुझे नहीं मालूम था कि तुम इतनी थोड़ी आयु लेकर आई हो। तुम्हारे वियोगमें उस समय सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईने 'विद्यावती-वियोग' नामका एक लेख जैन हितैषी (भाग १४ अंक ९)में प्रकट किया था। और उसमें मेरे तात्कालिक पत्रका कितना ही अंश भी उद्धृत किया था।

ऋण चुकाना—

पुत्रियो! जहाँ तुम मुझे सुख-दुख दे गई हो वहाँ अपना कुछ ऋण भी मेरे ऊपर छोड़ गई हो, जिसको चुकानेका मुझे कुछ भी ध्यान नहीं रहा। गत ३१ दिसम्बर सन् १९४७को उसका एकाएक ध्यान आया है। वह ऋण तुम्हारे कुछ जेवरों तथा भेंट आदिमें मिले हुए रुपये-पैसोंके रूपमें है जो मेरे पास अमानत थे, जिन्हें तुम मुझे स्वेच्छासे दे नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गई बल्कि वे सब मेरे पास रह गये हैं और जिन्हें मैंने बिना अधिकारके अपने ही काममें ले लिया है—तुम्हारे निमित्त उनका कुछ भी खर्च नहीं किया है। जहाँ तक मुझे याद है सन्मतीके पास पैरोंमें चाँदीके लच्छे व झाँवर, हाथोंमें चाँदीके कड़े व पछेली, कानोंमें सोनेकी बाली-झूमके, सिरपर सोनेका चक और नाकमें एक सोनेकी लोङ्ग थी, जिन सबका मूल्य उस समय १२५) रु०के लगभग था। और विद्याके पास हाथोंमें दो तोले सोनेकी कडूलियाँ चाँदीकी सरीदार, जिन्हें दादीजीने बनवाकर दिया था, तथा पैरोंमें नोखे थे, जिन सबकी मालियत ७५) रु०के करीब थी। दोनोंके पास ५०) रु०के करीब नक़द होंगे। इस तरह जेवर और नकदीका तखमीना २५०) रु०के करीबका होता है, जिसकी मालियत आज ७००) रु०के लगभग बैठती है। और इस लिये मुझे ७००) रु० देने चाहियें, न कि २५०) रु०। परन्तु मेरा अन्तरात्मा इतनेसे भी सन्तुष्ट नहीं होता है, वह भूलचूक आदिके रूपमें ३००) रुपये उसमें और भी मिलाकर पूरे एक हजार कर देना चाहता है। अतः पुत्रियो! आज मैं तुम्हारा ऋण चुकानेके लिये १०००) रु० 'सन्मति-विद्या-निधि'के रूपमें वीरसेवामन्दिरको इसलिये प्रदान कर रहा हूं कि इस निधिसे उत्तम बाल-साहित्यका प्रकाशन किया जाय—'सन्मति-विद्या' अथवा 'सन्मति-विद्या-विनोद' नामकी एक ऐसी आकर्षक बाल-ग्रन्थमाला निकाली जाय जिसके द्वारा बिनोदरूपमें अथवा बाल-सुलभ सरल और सुबोध-पद्धतिसे सन्मति-जिनेन्द्र (भगवान् महावीर)की विद्या-शिक्षाका समाज और देशके बालक-बालिकाओंमें यथेष्टरूपसे सञ्चार किया जाय—उसकी उनके हृदयोंमें ऐसी जड़ जमा दी जाय जो कभी हिल न सके अथवा ऐसी छाप लगा दी जाय जो कभी मिट न सके।

मेरी इच्छा—

मैं चाहता हूँ समाज इस छोटीसी निधिको अपनाए, इसे अपनी ही अथवा अपने ही बच्चोंकी पवित्र निधि समझकर इसके सदुपयोगका सतत् प्रयत्न करे और अपने बालक-बालिकाओंको सन्तान-दर-सन्तान इस निधिसे लाभ उठानेका अवसर प्रदान करे। विद्वान् बन्धु अपने सुलेखों, सलाह-मशवरों और सुरुचिपूर्ण चित्रादिके आयोजनों-द्वारा इस ग्रन्थमाला को उसके निर्माण-कार्यमें अपना खुला सहयोग प्रदान करें और धनवान बन्धु अपने धन तथा साधन-सामग्रीकी सुलभ योजनाओं-द्वारा उसके प्रकाशन-कार्यमें अपना पूरा हाथ बटाएँ। और इस तरह दोनों ही वर्ग इसके संरक्षक और संवर्द्धक बनें। मैं स्वयं भी अपने शेष जीवनमें कुछ बाल-साहित्यके निर्माणका विचार कर रहा हूँ। मेरी रायमें यह ग्रन्थमाला तीन विभागोंमें विभाजित की जाय—प्रथम विभागमें ५से १० वर्ष तकके बच्चोंके लिये, दूसरेमें ११से १५ वर्ष तककी आयु वाले बालक-बालिकाओंके लिये और तीसरेमें १६से २० वर्षकी उम्रके सभी विद्यार्थियोंके लिये उत्तम बाल-साहित्यका आयोजन रहे और वह साहित्य अनेक उपयोगी विषयोंमें विभक्त हो; जैसे बाल-शिक्षा, बाल-विकास, बालकथा, बालपूजा, बालस्तुति-प्रार्थना, बालनीति, बालधर्म, बालसेवा, बाल-व्यायाम, बाल-जिज्ञासा, बालतत्त्व-चर्चा, बालविनोद, बाल-विज्ञान, बाल-कविता, बालरक्षा और बाल-न्याय आदि। इस बालसाहित्यके आयोजन, चुनाव, और प्रकाशनादि-का कार्य एक ऐसी समितिके सुपुर्द रहे, जिसमें प्रकृत विषयके साथ रुचि रखने वाले अनुभवी विद्वानों और कार्यकुशल श्रीमानोंका सक्रिय सहयोग हो। कार्यके कुछ प्रगति करते ही इसकी अलगसे रजिस्टरी और ट्रस्टकी कार्रवाई भी कराई जा सकती है।

इसमें सन्देह नहीं कि जैनसमाजमें बाल-साहित्य का एकदम अभाव है—जो कुछ थोड़ा बहुत उप-लब्ध है वह नहींके बराबर है, उसका कोई विशेष मूल्य भी नहीं है। और इसलिये जैनदृष्टिकोणसे उत्तम बाल-साहित्यके निर्माण एवं प्रसारकी बहुत बड़ी जरूरत है। स्वतन्त्र भारतमें उसकी आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गई है। कोई भी समाज अथवा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुजफ्फरनगर-परिषद्-अधिवेशन

(बा० माईदयाल जैन बी० ए०, बी० टी०)

परिषद्के मुजफ्फरनगर अधिवेशनमें सम्मिलित होनेके प्रश्नने मेरे मनमें डाँवाडोलपन तथा दुविधा पैदा करदी। हृदय और मस्तिष्कमें एक द्वन्द्व उत्पन्न होगया। परिषद्की शिथिलताके कारण उसके प्रति उदासीनता होना स्वाभाविक है। परन्तु स्थापनाकाल से उससे सम्बन्ध होनेके कारण उसके प्रति एक मोह सा भी है, कुछ उससे आशाएँ हैं। समस्त बातें सोचकर, मैं १५ मईको प्रातः देहलीसे मुजफ्फरनगर के लिये रवाना होगया।

देश जो उत्तम बाल-साहित्य न रखता हो कभी प्रगति नहीं कर सकता। बालकोंके अच्छे-बुरे संस्कारोंपर ही समाजका सारा भविष्य निर्भर रहता है और उन संस्कारोंका प्रधान आधार बाल-साहित्य ही होता है। यदि अपने समाजको उन्नत, जीवित एवं प्रगतिशील बनाना है, उसमें सच्चे जैनत्वकी भावना भरना है और अपनी धर्म-संस्कृतिको, जा विश्वके कल्याणमें सविशेषरूपसे सहायक है, अक्षुण्ण रखना है तो उत्तम बाल-साहित्यके निर्माण एव प्रसारकी ओर ध्यान देना ही हागा। और उसके लिये यह 'सन्मति-विद्या-निधि' नीवकी एक ईटका काम दे सकती है। यदि समाजने इस निधिको अपनाया, उसकी तरफसे अच्छा उत्साहवर्द्धक उत्तर मिला और फलतः उत्तम बाल-साहित्यके निर्माणादि की अच्छी सुन्दर योजनाएँ सम्पन्न और सफल होगईं तो इससे मैं अपनी उस इच्छाको बहुत अंशों-में पूरी हुई समझूंगा जिसके अनुसार मैं अपनी दानों पुत्रियोंको यथेष्टरूपमें शिक्षित करके उन्हें समाज-सेवाके लिये अर्पित कर देना चाहता था।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
३१ मई सन् १६४८

—जुगलकिशोर मुख्तार

---

१२ बजे दिनकी सख्त गर्मीमें गाड़ी स्टेशनपर पहुँची। वहाँ स्वयंसेवक और सवारियाँ तैयार थीं। सनातनधर्म-कालेजके विशाल छात्रावासमें ठहरने और भोजनका प्रबन्ध था। सभाओंका प्रबन्ध स्थानीय जैन हाई स्कूलकी बिल्डिङ्ग और टाउन हाल के मैदानमें था।

मुजफ्फरनगरकी जैन बिरादरीके उत्साह, सुप्रबन्ध प्रेमपूर्ण आतिथ्य तथा सुव्यवस्थित पुर-तकुल्लुफ भोजन और नाश्तेकी जितनी प्रशंसा कीजाय कम है। सुबह ठंडाई-सहित नाश्ता, फिर कच्चा भोजन और शामको पक्का खाना। प्रबन्ध इतना अच्छा कि किसी को किसी बातकी जरा भी शिकायत नहीं। भोजन-प्रबन्धके बारेमें मैं इतना ही कहूँगा कि हमें कुछ सादगीसे काम लेना चाहिए, जिससे हरएक स्थानकी बिरादरी परिषद-अधिवेशनको आसानीसे बुला सके, या कमसे कम मुनासिब खर्चमें ठीक प्रबन्ध होसके।

मुजफ्फरनगरकी बिरादरीमें श्रीबलवीरसिंहजी पुराने कार्यकर्ताके अतिरिक्त बा० श्रीजयप्रकाशजी तथा श्रीसुमतिप्रसादजी एडवोकेट, एम० एल० ए० कांग्रेसी कार्यकर्ता दो ऐसे रत्न हैं जिनका जैनसमाज-को अधिक उपयोग करना चाहिये। श्रीसुमतिप्रसाद-जीको तो प्रेरणा करके सामाजिक कार्योंमें भी आगे लाना चाहिए और उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सुपुर्द करना चाहिये। मुझे आश्चर्य यही है कि अब तक उनकी सेवाओंका लाभ क्यों नहीं उठाया गया। पर जैनसमाजमें पुराने कार्यकर्ताओंको उदासीन न होने देने और नये नेता तथा कार्यकर्ता खोजनेकी लग्न या गर्ज ही किसे है?

परिषदमें दूर-दूर स्थानोंसे डेढ़ सौ दो सौ के लगभग नए-पुराने नेता तथा कार्यकर्ता आए। उनके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हृदयों में बड़ा जोश तथा अरमान था, किन्तु वह समाजके किसी काम भी नहीं आया। कुछ इने-गिने महानुभावोंने ही इतना समय ले लिया कि औरोंको अपने हृदयकी बात कहनेका अवसर ही नहीं मिला। पास-पास ठहरे हुए होते हुए भी किसीका किसीसे कोई परिचय नहीं कराया गया, न पारस्परिक सम्पर्क ही स्थापित हुआ। महिला कार्यकर्ताओं तथा नेताओं में सिर्फ श्रीमती लेखवती जैन थीं। यह दूसरी कमी है कि जैनसमाज स्त्री-शिक्षा-प्रचारके इस युगमें अभी तक दो-चार भी महिला लीडर पैदा नहीं कर सका। मैं यह माननेको तैयार नहीं कि जैनसमाजमें उच्च-शिक्षा-प्राप्त योग्य महिलाओंका अभाव है। दर्जनों नाम मैं गिनवा सकता हूं जिनमें श्रीमती रमारानी जैन धर्मपत्नी साहु शान्तिप्रसादजी, धर्मपत्नी ला० राजेन्द्रकुमारजी, पंडिता जयवन्तीदेवी, धर्मपत्नी श्रीऋषभसेन सहारनपुर, श्रीमती रामचन्द्र सिंगल सोनीपत आदि कुछ हस्तियाँ हैं जिनपर किसी भी समाजको गर्व हो सकता है। पर बात वास्तवमें यह है कि जैनसमाजमें योग्यसे योग्य व्यक्ति, कार्यकर्ता, विद्वान् होते हुए भी, एक प्रेरक, संयोजक, संग्राहक तथा संचालक शक्तिका अभाव है। और परिषदसे वह शक्ति पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी तथा बैरिस्टर श्रीचम्पतरायजीके स्वगवासके पश्चात् समाप्त होगई। अब दफ़्तरी काम है, पारस्परिक सम्पर्कका सर्वथा अभाव है। और सब शिथिलताका यही कारण है।

अधिवेशनकी समस्त कार्यवाही देखनेके बाद यह कहा जा सकता है कि परिषद वैधानिक तथा प्रतिनिधित्वकी दृष्टिसे (Constitutional and Representative points of views) से बहुत कमजोर है। ऐसा मालूम होता था कि जैसे परिषद किसी विधानके नीचे काम ही नहीं कर रही। विधान के किसी भी प्रश्नपर चैलेंज करनेपर परिषदके मुख्य संचालकोंके पास कोई उत्तर नहीं होता था। प्रतिनिधिकी दृष्टिसे तो यह कहा जासकता है कि हर एक उपस्थित महानुभाव अपना ही प्रतिनिधि था। जहाँ परिषदका केन्द्रीय ऑफिस अत्यन्त कमजोर तथा अव्यवस्थित है, वहाँ शाखा सभाएँ तो न होनेके बराबर हैं। यदि इस वर्षमें सभापति श्रीरतनलालजी और मन्त्री श्रीतनसुखरायजी इन त्रुटियोंको दूर कर सकें तो बड़ा काम होगा।

विषय-निर्धारिणी सभामें चन्दा करते समय बताया गया कि पिछले पाँच वर्षोंमें श्रीसाहू शान्तिप्रसादजीने ९० हज़ार रुपया परिषदकी सहायताके लिए दिया। यह बहुत बड़ी रकम है और उसके लिये समाज तथा परिषद साहूजीका जितना उपकार मानें कम है। इस बड़ी रक़मके अतिरिक्त समाजसे भी पाँच वर्षमें चन्दे, सहायता आदिके रूपमें २०, २५ हजार रुपये आये होंगे। किन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि इतने रुपये खर्च करके भी परिषद इन वर्षोंमें कुछ काम कर सकी हैं, सिवाय इसके कि परिषद को इतने वर्ष सिर्फ जिन्दा रख दिया गया है, मरने नहीं दिया गया।

परिषदके अधिवेशनमें जो प्रस्ताव पास हुए हैं, उनमें सबसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव वह है जिसमें हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिलों और दानके ट्रस्टोंके कानून बनानेमें सरकारसे जैनोंको अपना दृष्टिकोण पेश करने का अवसर देनेकी माँग है। यह अत्यन्त दूरदर्शितापूर्ण, नीतिपूर्ण और व्यवहार-कुशलता-परिचायक प्रस्ताव है। इस प्रस्तावका अनुमोदन करते हुए श्रीसाहू शान्तिप्रसादजीने जिस योग्यता तथा सभा चातुर्यका परिचय दिया वह अत्यन्त सराहनीय था। श्रीसुमतिप्रसादजीका समर्थक भाषण तो ऐसा था जैसा किसी धारासभामें बहुत ही सुलझे हुए स्टेटस्मैनका धारा-प्रवाही भाषण हो। प्रस्तावका विरोध इतना युक्तिहीन, असंयत-भाषापूर्ण, तथा जिद भरा था कि जनतापर उसका जरा भी असर नहीं हुआ। प्रस्ताव अत्यन्त बहुमतसे पास होगया। आने वाले वर्षोंमें जैन समाजको संगठित होकर अत्यन्त जागरूक तथा चौकन्ना रहकर निहायत होशियारी तथा प्रभावपूर्ण ढङ्गसे कार्य करना चाहिए ताकि भविष्यमें बनने वाले कानून अधिकसे अधिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हमारे अनुकूल बन सकें। यदि हमने जरा-सी भूल की तो उसकी हानि जैन समाजको सैकड़ों वर्षों तक उठानी पड़ेगी। यदि यह कार्य जैनसमाजके तीनों सम्प्रदाय मिलकर करें, तो और भी अच्छा है।

प्रबन्धक कमेटीके चुनावके समय जो आलोचना हुई, उससे हमें काफी सीखना चाहिये। नामालूम हम नुमायशी, निकम्मी कमेटियोंके चक्करसे कब निकलेंगे और ठोस काम करने वाली कमेटियाँ बनाना कब सीखेंगे ?

महामन्त्री-पदसे श्रीराजेन्द्रकुमारजीने त्यागपत्र दिया। वह स्वीकृत होगया। आपकी सेवाएँ जैन-समाज और परिषद्के लिए महान हैं। परिषद्के स्थापनाकालसे ही आपका परिषद्से सम्बन्ध रहा है। तन-मन-धनसे उसका कार्य आप २०, २५ वर्षसे कर रहे हैं। इतने वर्ष कार्य करने पर अवकाश चाहना सर्वथा उचित ही था। आपके स्थानपर श्री-तनसुखरायजी महामंत्री चुने गये। लाला तनसुखराय जी एक सिपाही ढंगके कार्यकर्ता हैं। आशा है कि वे परिषद्के संगठन-कार्यको ठीकरूपसे करेंगे और आपको समाजका पूरा सहयोग मिलेगा।

परिषद्के सभापति श्रीरतनलालजी हैं। आपकी योग्यता, कार्यकुशलता, त्याग, देशभक्ति आदि की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। समाज आपसे यही चाहती है कि समाजका नेतृत्व ठीक-ठीक करके समाजसे काम लें।

गाजियाबादके एक भाईने नवयुवकोंको कई बार इकट्ठा किया, किन्तु उसके परिणामस्वरूप किसी खास बात या कामका जिकर नहीं सुना।

समस्त बातोंको देखते हुए परिषद्का यह अधि-वेशन न विशेष उत्साहवर्धक ही था और न निराशा-पूर्ण। सब आलोचक काम देखते हैं, काम चाहते हैं, किन्तु काम करना कोई नहीं चाहता। और इसी लिए काम नहीं होता। काश, हम सब स्वयं कुछ काम करना सीखें !

बर्नार्डशाके पत्रका एक अंश

सुप्रसिद्ध अँग्रेज विद्वान् विचारक जार्ज बर्नार्डशा अपने २१ अप्रैल सन् १९४८के एक पत्रमें, जो उन्होंने बाबू अजितप्रसादजी जैन एम० ए०, लखनऊको उनके पत्रके उत्तरमें भेजा है, लिखते हैं कि—

'बहुत वर्ष हुए जब उनसे पूछा गया था कि प्रचलित धर्मोंमेंसे कौनसा धर्म ऐसा है जो उनके अपने धार्मिक विश्वासके सर्वाधिक निकट पहुँचता है, तो उन्होंने उत्तर दिया था कि क्वेकर मित्रमण्डलका पन्थ और जैनधर्म।

किन्तु जब वे भारत आये और यहाँ एक जैन-मन्दिरको देखा तो उन्होंने इस मन्दिरको अत्यन्त भद्दी घोड़ेके मूंडवाली मूर्त्तियोंसे भरा पाया। तीर्थङ्कर-प्रतिमाएँ अवश्य ही जादू-असर, सुन्दर और शान्ति-दायक थीं, किन्तु वे भी भोले मूर्तिपूजकों-द्वारा सामान्य देवी-देवताओंकी भाँति पूजी जा रही थीं।

अब जनसाधारणको प्रभावित करनेके लिये सब ही धर्मोंको उन अनुयायियोंकी योग्यताके अनुसार मूर्त्तियों एवं अतिशय-चमत्कारादि-द्वारा निचले स्तरपर लाना पड़ता ही है।'

ज्योतिप्रसाद जैन,
लखनऊ, ता० १८-५-१९४८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाकिस्तानी-पत्र

[हमारे कई मित्रोंके पास पाकिस्तानसे पत्र आते रहते हैं और कुछ उर्दू पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहते हैं, जिनसे साम्प्रदायिक उपद्रवोंपर काफ़ी प्रकाश पड़नेके अतिरिक्त लिखने वालोंकी स्वच्छ और वास्तविक मनोवृत्तिका पता लगता है। देशके बटवारेसे लोगोंको जो आघात पहुँचा है, उसका भी दिग्दर्शन होता है। हम ऐसे बहुमूल्य पत्र इस स्तम्भमें देनेका प्रयत्न करेंगे। नीचेका पत्र 'शायरके' सम्पादकको लिखा गया है और मार्चके शायरसे उसका आवश्यक अंश धन्यवाद-पूर्वक प्रकाशित किया जा रहा है। अनेकान्तकी अगली किरणोंमें और भी महत्वपूर्ण पत्र अपने मित्रोंसे मँगाकर देनेका विचार है।

—गोयलीय]

लाहौर, ८ अप्रेल १९४८

बिरादरे मुहतरिम, तस्लीम

.........पञ्जाबकी खानाजङ्गीकी खूँचकाँ दास्तानों-का कुछ हिस्सा आप तक पहुँचता रहा होगा। क्या बयान करूँ इस शादाब और मसरूर ख़ित्तेको इसके अपने ही बेटोंने लाखों बेगुनाहोंके खूनसे किस क़दर दाग़दार बना दिया है। हज़ारों बरस पेश्तरके .... इन्सानोंके दिमाग़ और रूहपरसे तहज़ीब और तमद्दुन का मुलम्मा काफ़ूर हो गया था और अपने पीछे इन्सानके भेसमें एक वहशी दरिन्दा छोड़ गया था, जिसने अपने भाइयोंको फाड़ खाया, अपने बेटोंका कलेजा नोच लिया, अपने बापदादाओंकी बूढ़ी हड्डियोंको पाँवसे कुचला और अपनी माँओं, बहनों और बेटियोंपर वोह सितम ढाये कि ख़ुद ज़ुल्म व दरिन्दगी भी अँगुश्तबदन्दाँ रह गए।

.........अल्लाह, अल्लाह, कैसा इन्क़लाब हो गया! अपनी क़िस्मका पहला अनोखा तबाहकुन इन्क़लाब! कितने अहबाब व अज़ीज़ इस खूनी सैलाबमें बह गये। कितने सब कुछ लुटाकर ख़ाली हाथ मुर्दोंसेभी बदतर ज़िन्दगी बसर करनेके लिये बच रहे। पञ्जाब, अब वोह पहला-सा पञ्जाब नहीं, जहाँ हर वक्त फारिगउलबाली और ख़ुशीके सोते उबलते रहते थे। अब वह लाखों बेघर चलती-फिरती लाशोंका मदफ़न है।

इन आँखोंने महाजरीनकी तबाही और ख़स्तगीके बहुत जाँगुदाज़ सीन देखे हैं। दुनियासे जी बेज़ार हो गया था, कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। हरवक्त दिलपर गहरी उदासी छाई रहती थी। ख़ुदाए पाकका शुक्र है कि अब लोगोंकी तकलीफ़ें कुछ कम हुई हैं। अच्छे-बुरे सब अपने-अपने ठिकाने लग गये हैं, ख़ुदा उनपर अपना फ़ज़्ल फ़रमाए।....... वतनकी यादकी तकलीफ़ यूँ मरते दमतक दिलको कचोके देती रहेगी, लेकिन अब इसकी शिद्दतमें कुछ कमी हो गई है। ....

आपकी बहन

शीरीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

भारतीय स्थिति –

भारतके बेर और फूट दो प्रसिद्ध मेवे हैं, इन्हीं की बदौलत भारतको अनेक दुर्दिन देखने पड़े हैं। धार्मिक संकीर्णता, अनुदारता, प्रान्तीयता और जातिमदको परतन्त्रताका अभिशाप समझा जाता था। लोगोंका विचार था कि जिस रोज परतन्त्रता-राक्षसीका जनाज़ा निकलेगा, ये दूषित विचार स्वयं उसके साथ दफ़न हो जाएँगे। परन्तु यह धारणा स्वप्नकी तरह क्षणभरको भी मधुर न हो सकी—

"वही रफ़्तार बेढंगी जो पहले थी सो अब भी है।"

स्वतन्त्र होनेके बाद देश-विभाजनके फलस्वरूप जो नर-मेध-यज्ञ, सीता-हरण और लङ्का-दहन-काण्ड हुए हैं, उसपर वर्द्धमान-कालीन यज्ञोंके पराजित पुरोहित, रावण और दुर्योधन, राक्षस और हलाकू-चँगेज़, तैमूर-नादिरशाह, डायर-ओडायरके प्रेत ठहाका मारकर हँस रहे हैं। दरिन्दे जानवर अपनेको भुनगा समझने लगे हैं, गधे हमारी करतूतोंपर मुस्करा रहे हैं और चील-कौओं, शृगाल और गिधोंको इस बातका अभिमान है कि वे मनुष्य नहीं हैं।

भारतकी इस दयनीय स्थितिको संक्रमण (प्रसव) काल समझकर धैर्य रखे हुए थे कि सम्भवतया स्वतन्त्रताके बाद ऐसा होना आवश्यक था। किन्तु यह संक्रमणकाल तो भारतको संक्रामक-कीटाणुओंकी तरह नष्टप्राय किये दे रहा है। भारतकी यह नाजुक हालत देखकर देशके कर्णधारोंके मुँहसे बर्बस निकल पड़ा है—"यदि भारतकी यही स्थिति रही तो वह अपनी स्वतन्त्रताको खो बैठेगा।"

जो कुसंस्कार और कुविचार परतन्त्रताकी विषैली वायुसे मान्दसे दीख पड़ने लगे थे, वे ही स्वच्छन्दताके झोंकेसे प्रज्वलित हो उठे हैं। प्रान्तीय स्वतन्त्रता मिल जानेसे प्रत्येक प्रान्तवाले स्वच्छन्द और उन्मत्त हो उठे हैं। मानो बन्दरोंके हाथमें डण्डे देकर उनके समक्ष गुड़की भेली डाल दीगई है, जो गुड़का उपभोग न करके एक-दूसरेको मार भगानेमें व्यस्त हैं।

प्रत्येक प्रान्तवाले अपने-अपने प्रान्तमें नौकरी, व्यापार, उद्योग-धन्धे और राजकीय सुविधाएँ सब अपने प्रान्तवालोंके लिये सुरक्षित रखना चाहते हैं। अभारतीयसे अधिक अब अन्य प्रान्तीय विदेशी समझा जाने लगा है। और तारीफ़ यह है कि इस प्रान्तीय रोगसे ग्रसित प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रान्तके अतिरिक्त अन्य प्रान्तोंमें भी अपने प्रान्तवालोंके लिये पूरी सुविधा चाहता है। भारतवासी होनेके नाते ये लोग भारतके हर कोनेमें व्यापार, उद्योग-धन्धे, नौकरियों आदिमें समान अधिकार चाहते हैं, किन्तु अपने प्रान्तमें अन्य प्रान्तवासीको फूटी आँखसे भी देखना नहीं चाहते। "जब तुम हमारे घर आओगे तो क्या लाओगे? और जब हम तुम्हारे यहाँ आएँगे तो क्या दोगे?" किसी कजूसका कहा हुआ यह वाक्य इस समय शतप्रतिशत चरितार्थ हो रहा है। "बङ्गाल बङ्गालियोंका है, ये मारवाड़ी यहूदी हैं, पञ्जाबी उद्दण्ड और झगड़ालू हैं" यह धारणा बङ्गवासियोंमें बैठाई जा रही है। बिहारमें बिहारी, बङ्गाली, उड़ियाको लेकर सङ्घर्ष चलने लगे हैं। महाराष्ट्रीय, गुजराती, पारसी, मद्रासी कभी प्रान्तीयता और जातीयताके कूपसे निकले ही नहीं। सी० पी०, यू० पी० और दिल्ली प्रान्त इस छूतकी बीमारीसे अछूते थे; किन्तु जबसे पाकिस्तानी हिन्दुओंका प्रवेश हुआ है, तबसे उनके संक्रामक-कीटाणु इनमें भी प्रवेश करते जारहे हैं। यदि शीघ्र इस बीमारीका उपचार न हुआ तो भारत जैसा विशाल देश यूरुप, इङ्गलेण्ड, फ्रान्स, बेलजियम, स्वीडन, डेनमार्क,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हालेण्ड, जर्मन आदिकी तरह छोटे-छोटे क्षेत्रोंमें विभाजित हो जायगा।

जाति-मदका अब यह हाल है कि अब यह चतुर्वर्णोंमें सीमित न रहकर हजारों शाखा-उपशाखाओंमें फूट निकला है। ये चतुर्वर्ण एक दूसरेसे लड़ते ही थे अब परस्परमें भी ताल ठोकने लगे हैं। म्यूनिस्पलकमेटियों, डिस्ट्रिक्टबोर्डोंके चुनावोंमें संघर्ष-समाचार हमारे सामने हैं। अब केवल चार वर्णोंमें ही संघर्ष नहीं रहा, अपितु चौबे-पाण्डे, मिश्र-द्विवेदी, गहलोत-राठौड़, चौहान-कछवाहे, जाट-अहीर, गूजर-माली, अग्रवाल-ओसवाल, माहेश्वरी-खण्डेलवाल, श्रीवास्तव-सक्सेना, सुनार-लुहार, धोबी-तेली, चमार-भङ्गी आदि हज़ारों उपजातियोंको लेकर संघर्ष होने लगे हैं। भील-कोल, द्राविड़-आदिवासी और अछूत-समस्या अभी हल हो नहीं पा रही है कि यह जाति-मदका विषधर और फन फैलाकर खड़ा होगया है। मोहन (गान्धी) की अनुपस्थितिमें इस कालीदहमें कूदकर कौन कालिनागको विष रहित करे, यह सूझ नहीं पड़ रहा है। यदि शीघ्र इसका विषहरण नहीं किया गया तो सारे भारतमें यह विष फैलते देर नहीं लगेगी।

साम्प्रदायिक और धार्मिक उन्माद महात्माजीके बलिदानसे खुमारी लेते नजर आरहे हैं, पर बरसाती हवा पाते ही यह उन्माद यदि फिर उठ खड़ा हुआ तो फिर यह राक्षस रामके मारे भी नहीं मरेगा।

इसके अतिरिक्त भारतमें पाकिस्तानी अङ्कुर धीरे-धीरे बढ़ ही रहा है। काश्मीर और हैदराबादका समस्या भयावह बनी हुई है। कम्यूनिष्ट घुनके कीड़ोंकी तरह भारतको जर्जरित कर ही रहे हैं। भ्रष्टाचार और घूसखोरीका यह हाल है कि मालूम होता है हम भारतमें न रहकर ठगों-चोरोंके मुल्कमें बस गये हैं।

अब देश-सेवा आत्मशुद्धिका साधन न रहकर स्वार्थ और व्यक्तिगत महत्वाकाँक्षाओंकी साधक बन गई है। वे दिन हवा हुए जब देशके लिये त्याग करना और कष्ट सहना नैतिक कर्तव्य समझा जाता था और देशभक्त कहलाना आत्म-प्रतिष्ठाका द्योतक था। अब तो यह अपनी मनोभिलषित इच्छाओंकी पूर्तिका अमोघ उपाय बन गया है। स्वतन्त्रताके बाद तप-त्यागकी आवश्यकता नहीं रही, अतः बड़े-बड़े देश-द्रोही भी अब अपनेको देशभक्त बेझिझक कहते हैं। जो अधिकारी गान्धी कैपको देखकर भड़क उठते थे, वे अब गान्धीजीके चित्रकी पूजा करते हैं। जिन अधिकारियोंने देश-भक्तोंको फाँसीपर लटका दिया, गोलियोंसे भून दिया, जेलोंमें सड़ा-सड़ाकर मार डाला, वे भी आज देशभक्तिका जामा पहन कर बड़ी शानसे निकलते हैं।

देश-सेवक जूझते रहे, भूखे मरते रहे, उनके बच्चे बिलखते रहे, औरतें सिसकतीं रहीं और जो ठाटसे नौकरी करते रहे, क्लबोंमें पीते-नाचते रहे, खजाने भरते रहे, वे ही आज हमको कर्तव्यका बोध करानेमें गर्वका अनुभव कर रहे हैं। मालूम होता है सारी भूखी बिल्लियाँ भगतन बन गई हैं। हम उन सब सज्जनोंको भी जानते हैं जो युद्धमें अंग्रेजोंकी सहायता करते रहे। जर्मन-विजयकी खुशी भी बड़े ठाटसे मनानेमें पेशपेश रहे। वे ही हवाका रुख बदलते ही आज़ाद हिन्द फौजकी सहायताको झोली लेकर निकल पड़े और अपने दूधमुँहे बच्चोंको इंक़लाब भगतसिंह ज़िन्दाबाद और पूंजीवाद मुर्दाबादके नारे लगाते देख फूल उठते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि अब इसमें जानको जोखिममें डालनेका प्रभाव न रहकर जानको मुटियानेका अमर आगया है।

अब देशभक्ति राजनैतिक अधिकारियोंकी स्थली बन गई है। चर्खा-दङ्गली, काँग्रेसी, सोसलिष्ट, कम्यूनिष्ट आदि इस अखाड़ेमें लङ्गर बाँधकर उतरे हुए हैं। भारतका हित किसमें है, इतना सोचनेका इन्हें अवकाश कहाँ? अपनी पार्टीका हित किसमें है और विरोधी पक्ष किस दावपर पछाड़ा जाय, यही चिन्ता इन्हें हरवक्त बनी रहती है। गनीमत है कि १००-५० खरे देशरत्न अभी जीवित हैं और उनके हाथमें शासनकी बागडोर है, वे मन-वचन-कायसे भारतकी स्थिति सुधारनेमें अहर्निश प्रयत्न कर रहे हैं और प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता आदिकी जड़ोंमें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी मट्ठा दे रहे हैं। फिर भी जबतक हम सभी भारत-पुत्र अपने कर्तव्यको न समझें और उस ओर प्रयत्नशील न हों तबतक कैसे हमारे देशकी उन्नति हो सकेगी ?

जैनसमाजका कर्तव्य–

अतः अब जैनसमाजका कर्तव्य हो जाता हैं कि वह स्वार्थसाधन करने वाली देशभक्तिसे बचे, राजनैतिक दल-दलसे दूर रहे और सही अर्थोंमें भारतीय सपूत बने।

(१) किसी भी जैनको म्यूनिस्पलकमेटियों, डिस्ट्रिक्टबोर्डों, कोन्सिलों और व्यवस्थापक सभाके लिये स्वतंत्र उम्मीदवारके नाते कभी भी खड़ा नहीं होना चाहिये। स्वतन्त्र खड़े होनेमें साम्प्रदायिक उत्पातकी हर समय सम्भावना है। अतः किसी भी व्यक्तिको यह अधिकार नहीं है कि वह व्यक्तिगत महत्वाकाँक्षाओंके लिये समूची समाजको खतरेमें डाल दे। यदि कोई स्वार्थी ऐसा करनेका दुःसाहस करे भी तो समाजका उसका साथ हर्गिज नहीं देना चाहिये। चुनाव-निर्वाचनकी उम्मीदवारीके लिये उसी व्यक्तिका खड़ा होना चाहिये और उसीका हमें समर्थन करना चाहिये जिसको उसके त्याग, बलिदान या योग्यताके बलपर देशके अधिकारी वर्गने खड़ा किया हो। जिस कार्यमें देशकी भलाई हो, बहुसंख्यक जनता जिस वर्गके कार्यको सराहे, उसे विश्वस्त समझे हमें उसी वर्गकी लोक-हितैषी योजनाओंमें भाग लेना चाहिये। व्यर्थके राजनैतिक दलदलमें नहीं फँसना चाहिये। यह वह दलदल है कि एक बार भी भूलसे फँस जानेपर फिर कभी उद्धार नहीं।

अतः हमारी समाजका कर्तव्य है कि अब वह अपनी संस्कृति और धार्मिक आचार-विचारका बड़ी योग्यतासे प्रसार करे। और यह प्रसार तभी हो सकता है जब हम जैनधर्मके मूल सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें उतारें।

(२) हमारे देशमें अब माँस-मदिराका प्रसार उत्तरोत्तर बड़े वेगसे बढ़ता जारहा है। दिन-पर-दिन इस तरहके रेस्टोरेण्ट और होटल बड़ी संख्यासे खुलते जारहे हैं। दिल्लीके जिस चाँदनीचौकमें मुसलमानी सल्तनतमें भी कभी माँस नहीं बिका, वहाँ अब हर १० गजकी दूरीपर कबाब और गोश्त-रोटी बिकने लगे हैं। अण्डोंका प्रचार होता जारहा है। हमारी नई दिल्ली भी इस दूषित खान-पानसे प्रभावित हो रही है। क्लबोंमें सभ्य सोसायटीके नामपर शराब और जूआ जरूरी होगया है। सिनेमाओंके हुस्नो-इश्कके नामोंसे अश्लीलता-निर्लज्जताका जो पाठ हमारे बालक-बालिकाएँ जवानीकी चौखटपर पाँव रखनेसे पहले पढ़ लेते हैं, उससे हमारी नस्लोंमें घुन लगने लगा है। अब समय आगया है कि श्वेताम्बरजैन-साधु आश्रमोंसे निकल आएँ। गली-गली, कूँचे-कूँचेमें सभाएँ करके माँस-मदिराका आम जनतासे त्याग करायें। मद्य-माँस-निषेधिनी सभा स्थापित करके—सिनेमा और समाचारपत्रोंके विज्ञापनों-द्वारा, पोस्टरों-द्वारा, छोटे-छोटे ट्रेक्टों और व्याख्यानों-द्वारा इस बढ़ती प्रथाको रोकें। हमारे जिन पूर्वजोंने यज्ञ-याज्ञादि और उच्च वर्णोंमें हिंसा सर्वथा त्याज्य करादी थी, निम्न श्रेणीके भी बहुत कम उसका प्रयोग करते थे। आज उनके हम वंशज उनकेकिये हुए अनथक कार्यपर पानी फिरते देख रहे हैं और हाथ-पर-हाथ बाँधे चुपचाप बैठे हैं। कहीं-कहीं वेश्यानृत्य भी चालू होगये हैं। हमें चाहिए तो यह था कि हम पूर्वजोंके कार्यको आगे बढ़ाते। इनका समूचे भारतमें विरोध करके हम यूरुप और इस्लामी देशोंमें पहुँचते और कहाँ हम अपनी आँखोंके समक्ष इस धर्मघाती भावनाको उत्तरोत्तर बढ़ती हुई देख रहे हैं।

भारतीय पूर्ण शक्तिशाली और बलवान हों, अहिंसक हों, उनके हृदयमें दूसरोंके प्रति दया-ममता हो। वह महावीरकी तरह पशु-पक्षियोंके पीड़ित होनेपर दयार्द्र हो उठें, पतित-से-पतितको भी ईसाकी तरह उबार सकें।

(३) हमारी वाणीमें जादू हो, हमारी वाणीसे जो भी वाक्य निकले उसका कुछ क़ीमती अर्थ हो। लोग हमारी बातको निरर्थक न समझकर मूल्यवान समझें। जनताको यह विश्वास हो कि प्रत्येक जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपनी बातका धनी होता है। जो वायदा करता है उसे जानपर खेलकर भी पूरा करता है। सूर्य-चन्द्रकी गति बदल सकती है, परन्तु इनकी बात नहीं बदल सकती। जानसे क़ीमती वचनको समझते हैं।

(४) जैनोंसे कभी धोखेकी सम्भावना नहीं, जो वस्तु देंगे, खरी और पूरी देंगे। इनसे बिन गिने रुपये लेनेपर भी पाईका फ़र्क नही पड़ेगा। इनका टिकट चैक करना, चुङ्गीपर पूछना वर्जित है। जैन कह देनेका ही यह अर्थ होना चाहिए कि जैन राजकीय नियमके विरुद्ध कोई वस्तु नहीं रखते और न राजकीय या प्रजाहितके साधनोंका दुरुपयोग ही करते हैं। यह मिट्टी और पानी भी पूछकर लेते हैं।

(५) हमारा शील-स्वभाव ऐसा हो कि निर्जन स्थानमें भी किसी अबलाको हमारे प्रति सन्देह न हो। वह अपने निकट हमारी उपस्थिति रक्षककी भाँति समझे। जैन भी बलात्कारी या कुशील हो सकता है यह उसके मनमें कल्पना ही न आकर दे।

(६) परिग्रहवादको लेकर आज सारा संसार त्रस्त है। इस आपा-धापीके कारण ही युद्ध होते हैं, जीवनोपयोगी वस्तुओंपर कण्ट्रोल लगाते हैं। मज़-दूर-पूंजीपति संघर्ष चलते हैं। अतः हमें अपने जीवनमें 'जीयो और जीनेदो'का सिद्धान्त उतारना होगा। पैसा इकट्ठा करना पाप नहीं, उसके बलपर शोषण करना—अत्याचार ढाना पाप है। परिग्रहके सम्बन्धमें भी हमें अपने पूर्वजोंकी त्यागवृत्ति, सन्तोष और परिमाणवृत्ति फिरसे अपनानी होगी।

जब हम इस तरहके आत्म-शुद्धिके कार्य अपने जीवनमें उतारेंगे तभी हमारा यह लोक और परलोक सुधरेगा। और तभी सच्चे अर्थोंमें जैनधर्मका प्रसार होगा और संसार इसकी ओर आकर्षित होगा।

उक्त विचार आज शायद कुछ नवीन और अट-पटेसे प्रतीत होते हों, परन्तु हमारे धर्मकी भित्ति ही इन ईंटोंपर खड़ी की गई है। अगर जैनधर्मको जीवित रखना है तो उसकी इन नींवकी ईंटोंको हरगिज़ हरगिज़ नहीं हिलने देना होगा।

हम भारतके आदि-निवासी हैं। भारत हमारा है। हमारा हर प्रयत्न, हर श्वास इसके लिये उपयोगी हो। हमसे स्वप्नमें भी इसका अहित न हो। इसके लिये हमें सदैव जागरूक रहना होगा। आज स्वार्थके लिये धन-लोलुप पाकिस्तानी क्षेत्रोंमें अपने देश-भाइयोंका गला काटकर कपड़ा और अन्न भेज रहे हैं और अनेक षडयन्त्रोंमें लिप्त होरहे हैं। ऐसे अधम कार्योंसे—मनुष्योंसे हमें दूर रहना होगा। हम अपने अच्छे कार्योंसे जैन-समाजकी कीर्ति यदि न बढ़ा सकें तो हमें पूर्वजोंके किये हुए सत्कार्योंपर पानी फेरनेका कोई अधिकार नहीं है।

डालमियानगर
१४ मई १९४८

—गोयलीय

कथित स्वोपज्ञ भाष्य

(लेखक—बा० ज्योतिप्रसाद जैन एम. ए.)

आचार्य उमास्वामि-कृत तत्त्वार्थाधिगम सूत्र दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समानरूपसे परम मान्य ग्रन्थ है, और दोनों ही सम्प्रदायोंके उद्भट विद्वानों-द्वारा, प्राचीन कालसे ही, जितने बहुसंख्यक टीका-ग्रन्थ इस एक धर्मशास्त्रपर रचे गये उतने शायद किसी अन्य जैन, और सम्भवतया अजैन ग्रन्थपर भी नहीं रचे गये। उसकी सर्वप्रथम टीका दूसरी शताब्दी ई०में आचार्य स्वामिसमन्त-भद्रद्वारा रची गई बताई जाती है, किन्तु वह टीका वर्तमानमें अनुपलब्ध है। तत्त्वार्थसूत्रकी जो प्राचीन-तम दिगम्बर टीका इस समय उपलब्ध है वह आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद (५वीं शताब्दी ई०) द्वारा रचित 'सर्वार्थसिद्धि' है। तदुपरान्त, ७वीं शताब्दी ई०में भट्टाकलङ्कदेवने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक', ८वीं शताब्दी ई०में विद्यानन्दस्वामीने 'श्लोकवार्तिक' तथा उनके पश्चात् अन्य अनेक टीकाएँ दिगबर विद्वानोंने रची हैं।

श्वेताम्बर विद्वानों-द्वारा इस ग्रन्थकी टीकाएँ प्रायः ९वीं शताब्दी ई०के पश्चात् रची जानी प्रारम्भ हुई। किन्तु श्वेताम्बर आम्नायमें इस सूत्र ग्रन्थका एक प्राचीन भाष्य भी प्रचलित रहता आया है, जिसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कि उक्त आम्नायके विद्वानों-द्वारा स्वोपज्ञ भाष्य अर्थात् स्वयं ग्रन्थकर्ता उमास्वातिकृत समझा और बताया जाता रहा है। कुछ वर्ष हुए, अनेकान्त आदि पत्रोंमें इस विषयको लेकर श्वेताम्बर तथा दिगम्बर विद्वानोंके बीच पर्याप्त वादविवाद चला था, और उसका परिणाम प्राय: यही निकला था कि कथित स्वोपज्ञ भाष्य आचार्य उमास्वामीके समयसे बहुत पीछेकी रचना है और वह उनके स्वयंके द्वारा रची जानी सम्भव नहीं है। किन्तु दिगम्बर विद्वानों-द्वारा प्रस्तुत प्रबल एवं अकाट्य प्रमाणोंसे और युक्तियोंके बावजूद उदारसे उदार श्वेताम्बर विद्वान् भी भाष्यकी स्वोपज्ञतापर अविश्वास करनेको तैयार नहीं होते।

इसी विषयपर, प्रसगवश, प्राचीन इतिहास-विशेषज्ञ प्रो. सी. डी. चटर्जी महोदय ने अपने एक लेखमें[1] सुन्दर प्रकाश डाला है। उक्त लेखके फुटनोट नं० ४१ में आप कथन करते हैं कि—

"यह विश्वास करना अत्यन्त कठिन है कि उमास्वामी को 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' जैसा जैनसिद्धान्त (तत्त्वज्ञान एवं आचार) का अपूर्व सार-सङ्कलन, जोकि जैनधर्ममें वही स्थान रखता है जैसा कि बौद्धधर्ममें 'विशुद्धिमग्ग' दिगम्बर आम्नाय-द्वारा अपने अङ्ग एवं अङ्गबाह्य श्रुत-द्वयका स्वरूप तथा आकार पूर्णतया सुनिश्चितकर लिये जानेके पूर्व ही लिखा जा सका हो[2]।

"यह कि, उमास्वाति अथवा उमास्वामी एक दिगम्बर आचार्य थे इस बातमें तनिक भी सन्देह नहीं है, किन्तु साथ ही यह बात भी उतनी ही सत्य है कि उन्होंने अपने ग्रन्थमें दिगम्बरों और श्वेताम्बरोंके बीच विवादास्पद विषयोंका समावेश न करनेमें प्रयत्नपूर्वक सावधानी बरती है। तत्त्वार्थाधिगमसूत्रका मूलभाष्य (बिबलियोथेका इंडिका १९०३-५) जो कि बहुलताके साथ श्वेताम्बर मान्यताओं एवं क्रियाओंका समर्थन करता है, उक्त आम्नायके अनुयायियों-द्वारा स्वयं उमास्वातिकी कृति माना जाता है। श्वेताम्बरोंका उक्त भाष्यको उमास्वामि कृत मानना कहाँ तक सङ्गत है, यह कहना तो जरा कठिन है, किन्तु हमें इस बातको खुले हृदयसे स्वीकार करनेमें अवश्य ही कोई झिझक नहीं होनी चाहिये कि अपने ही ग्रन्थपर स्वोपज्ञ भाष्य लिखनेका श्रेय हम आधुनिक विद्वानोंने भी अनेक ग्रन्थकारोंको दे डाला है। अस्तु, 'अर्थशास्त्र'के स्वयंके एक श्लोकके सुस्पष्ट अभिधेयार्थके बावजूद 'अर्थशास्त्र' जिस रूपमें आज उपलब्ध है उसी रूपमें स्वयं कौटिल्य द्वारा रचा कहा जा रहा है, जबकि वास्तवमें वह मूलग्रन्थकी विष्णुगुप्त नामक एक विद्वान् द्वारा रचित टीकामात्र है, जिसमें कि मूल अर्थशास्त्रके पद्योंको अधिांशत: गद्यरूप दे दिया गया है, और शेष पद्योंमेंसे कुछकी व्याख्या कर दी गई है तथा कुछ एकको उनके स्वरूपमें ही उद्धृत कर दिया गया है। इस प्रकारके उदाहरण एक दो नहीं, अनेक हैं। हम लोगोंने धनञ्जयके 'दशरूपक'पर रचे गये 'अवलोक' का कर्तृत्व धनञ्जयको ही प्रदान किया, और यह माना कि उस 'अवलोक'को उसने 'धनिक' नामसे रचा, और यह नाम उसने अपने ग्रन्थपर स्वयं ही टीका रचनेके लिये उपनामके रूपमें धारण किया था! इसी प्रकार इतिहासकार महानामको अपने 'महावंश'पर स्वयं ही टीका रचनेका श्रेय दिया गया है, इस बातकी भी अवहेलना करते हुए कि स्वयं ग्रन्थका पाठ इस बातको असिद्ध कर रहा है।

हमारी इस प्रकारकी अन्ध-विश्वास-प्रियताके ये कतिपय ज्वलन्त उदाहरण हैं। और यदि हम (आधुनिक विद्वान्) तत्त्वार्थाधिगमके कथित मूलभाष्यका कर्तृत्व भी उसके स्वयंके रचयिता, उमास्वामिको ही प्रदान करते हैं, दिगम्बर विद्वानोंकी प्रबल पुष्ट आपत्तियोंकी भी अवहेलना करते हुए, तब भी हम कोई नई मिसाल पैदा नहीं कर रहे हैं, क्योंकि यह रिवाज तो हमने पहलेसे ही *भली प्रकार स्थापित* कर लिया है।"

१ Dr. B. C. Law Volume, Part I में प्रकाशित

२ और अपने लेखमें अन्यत्र आपने कथन किया है कि "पूर्ण सम्भावना यही है कि कुन्दकुन्द और उमास्वामी दोनों सन् ई० पूर्व ७५से सन् ई० ५०के बीचमें हुए थे।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय ज्ञानपीठ काशीके प्रकाशन

१. **महाबन्ध**—(महधवल सिद्धान्त-शास्त्र) प्रथम भाग । हिन्दी टीका सहित मूल्य १२) ।

२. **करलक्खण**—(सामुद्रिक-शास्त्र) हिन्दी अनुवाद सहित । हस्तरेखा विज्ञानका नवीन ग्रन्थ । सम्पादक—प्रो० प्रफुल्लचन्द्र मोदी एम० ए०, अमरावती । मूल्य १) ।

३. **मदनपराजय**— कवि नागदेव विरचित (मूल संस्कृत) भाषानुवाद तथा विस्तृत प्रस्तावना सहित । जिनदेवके कामके पराजयका सरस रूपक । सम्पादक और अनुवादक-पं० राजकुमारजी सा० । मू० ८)

४. **जैनशासन**—जैनधर्मका परिचय तथा विवेचन करने वाली सुन्दर रचना । हिन्दू विश्वविद्यालयके जैन रिलीजनके एफ० ए० के पाठ्यक्रममें निर्धारित । मुखपृष्ठपर महावीरस्वामीका तिरङ्गा चित्र । मूल्य ४।-)

५. **हिदी जैन-साहित्यका संक्षिप्त इतिहास**—हिन्दी जैन-साहित्यका इतिहास तथा परिचय । मूल्य २॥।) ।

६. **आधुनिक जैन-कवि**—वर्तमान कवियोंका कलात्मक परिचय और सुन्दर रचनाएँ । मूल्य ३॥।) ।

७. **मुक्ति-दूत**—अञ्जना-पवनञ्जयका पुण्यचरित्र (पौराणिक रोमाँस) मू० ४॥।)

८. **दो हजार वर्षकी पुरानी कहानियां**—(६४ जैन कहानियाँ) व्याख्यान तथा प्रवचनोंमें उदाहरण देने योग्य । मूल्य ३) ।

९. **पथचिह्न**—(हिन्दी-साहित्यकी अनुपम पुस्तक) स्मृति रेखाएँ और निबन्ध । मूल्य २) ।

१०. **पाश्चात्यतर्कशास्त्र**—(पहला भाग) एफ० ए० के लॉजिकके पाठ्यक्रमकी पुस्तक । लेखक—भिक्षु जगदीशजी काश्यप, एफ० ए०, पालि—अध्यापक, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी । पृष्ठ ३८४ । मूल्य ४॥) ।

११. **कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न**—मूल्य २) ।

१२. **कन्नडप्रान्तीय ताडपत्र ग्रन्थ-सूची**—(हिन्दी) मूडबिद्रीके जैनमठ, जैन-भवन, सिद्धान्तवसदि तथा अन्य ग्रन्थ-भण्डार कारकल और अलिपूरके अलभ्य ताडपत्रीय ग्रन्थोंके सविवरण परिचय । प्रत्येक मन्दिरमें तथा शास्त्र-भण्डारमें विराजमान करने योग्य । मूल्य १०) ।

वीरसेवामन्दिरके सब प्रकाशन भी यहाँपर मिलते हैं

प्रचारार्थ पुस्तक मँगाने वालोंको विशेष सुविधाएँ

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१ **अनित्यभावना**—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। इष्टवियोगादिके कारण कैसा ही शोकसन्तप्त हृदय क्यों न हो, इसको एक बार पढ़ लेनेसे बड़ी ही शान्तताको प्राप्त हो जाता है। इसके पाठसे उदासीनता तथा खेद दूर होकर चित्तमें प्रसन्नता और सरसता आजाती है। सर्वत्र प्रचारके योग्य है। मूल्य ।)

२ **आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र**—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्रगन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी सानुवाद व्याख्या सहित। मूल्य ।)

३ **सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ**—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी अनेक प्राचीन पद्योंका लेकर नई योजना, सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि-सहित। इसमें श्रीवीरवर्द्धमान और उनके बादके, जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान् आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमंगल-कामना, २ नित्यकी आत्म-प्रार्थना ३ साधुवेषनिदर्शन-जिनस्तुति, ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पाँच प्रकरण हैं। पुस्तक पढ़ते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है। नित्य पाठ करने योग्य है। मू० ।।)

४ **अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड**—यह पञ्चाध्यायी तथा लाटी संहिता आदि ग्रन्थोंके कर्ता कविवर राजमल्लकी अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बन्द किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया और पण्डित परमानन्दजी शास्त्रीका सुन्दर अनुवाद, विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जीकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रन्थ है। मू० १।।)

५ **उमास्वामि-श्रावकाचार-परीक्षा**—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी ग्रन्थपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रन्थ-परीक्षाओंके इतिहासको लिये हुये १४ पेजकी नई प्रस्तावना-सहित। मू० ।)

६ **न्याय-दीपिका (महत्वका नया संस्करण)** न्यायाचार्य प० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्यायदीपिकाका यह विशिष्ट संस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अबतक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियाँ चली आरही थीं उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधनको लिये हुए यह संस्करण मूलग्रन्थ और उसके हिन्दी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय, १०१ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना, विषयसूची और कोई ८ परिशिष्टोंसे संकलित है, साथमें सम्पादक-द्वारा नवनिर्मित 'काशाख्य' नामका एक संस्कृत टिप्पण भी लगा हुआ है, जो ग्रन्थगत कठिन शब्दों तथा विषयोंको खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके कामकी चीज है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस सजिल्द बृहत्संस्करणका लागत मूल्य ५) रु० है। कागजकी कमीके कारण थोड़ी ही प्रतियाँ छपी हैं और थोड़ी ही अवशिष्ट रह गई हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मँगा लेना चाहिये।

७ **विवाह-समुद्देश्य**—लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार, हालमें प्रकाशित चतुर्थ संस्करण।

यह पुस्तक हिन्दी-साहित्यमें अपने ढंगकी एक ही चीज है। इसमें विवाह-जैसे महत्वपूर्ण विषयका बड़ा ही मार्मिक और तात्त्विक विवेचन किया गया है। अनेक विरोधी विधि-विधानों एवं विचार-प्रवृत्तियों से उत्पन्न हुई विवाहकी कठिन और जटिल समस्याओंको बड़ी युक्तिके साथ दृष्टिके स्पष्टीकरण-द्वारा सुलझाया गया है और इस तरह उनमें दृष्टिविरोधका परिहार किया गया है। विवाह क्यों किया जाता है? धर्मसे, समाजसे और गृहस्थाश्रमसे उसका क्या सम्बन्ध है? वह कब किया जाना चाहिये? उसके लिये वर्ण और जातिका क्या नियम होसकता है? विवाह न करनेसे क्या कुछ हानि-लाभ होता है? इत्यादि बातोंका इस पुस्तकमें बड़ा ही युक्ति-पुरस्सर एवं हृदयग्राही वर्णन है। बढ़िया आर्ट पेपरपर छपी है। विवाहोंके अवसरपर वितरण करने योग्य हैं। मू० ।।)

प्रकाशन विभाग—
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

प्रकाशक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ काशीके लिये आशाराम खत्री द्वारा रॉयल प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org